॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

आत्मधर्म

वर्ष २ : अंक १२ : चैत्र २४७३

क्रमांक २४

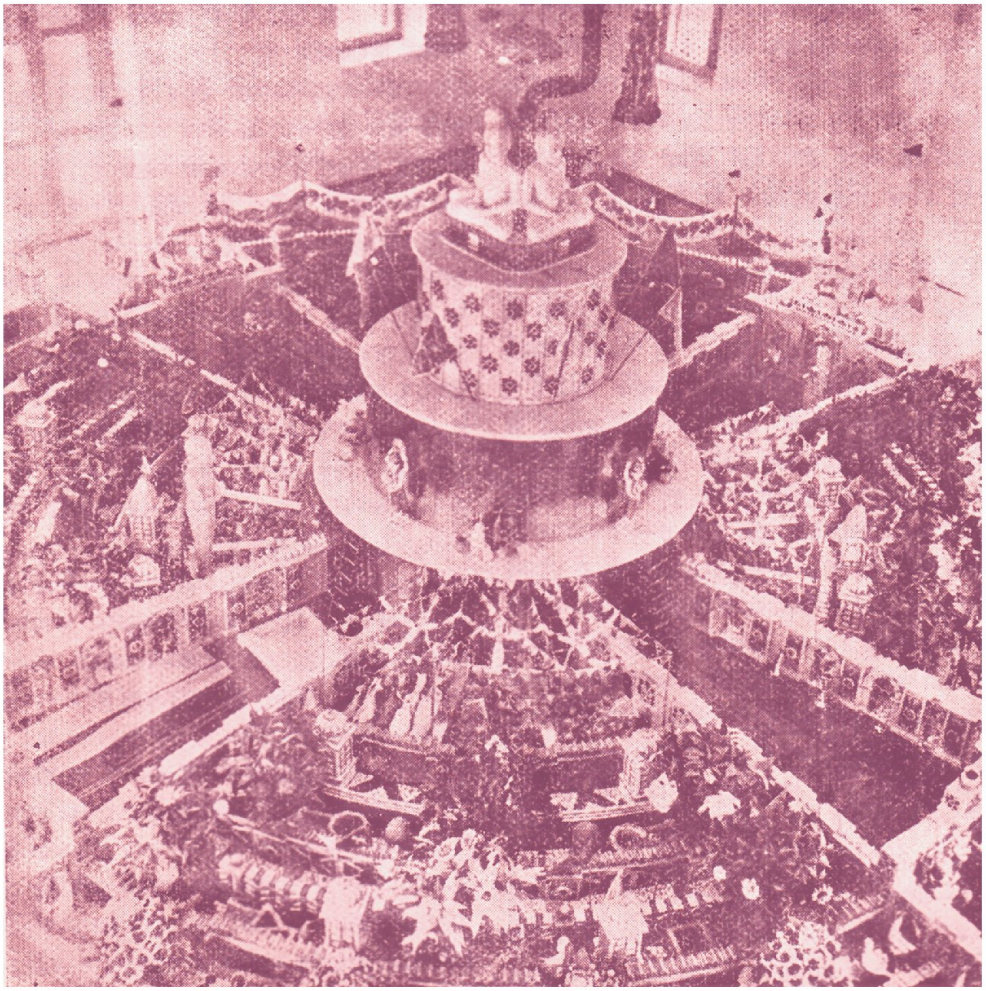

श्री सोनगढ़ में निर्मित समवसरण (धर्मसभा)

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

आत्मधर्म : वर्ष : २ : अंक : १२ : २४ : चैत्र : : २४७३ :

समवसरण की रचना

अध्यात्मवेत्ता श्री कानजीस्वामी महाराज के निमित्त से सोनगढ़ (काठियावाड़) जैन यात्रा का धाम बन गया है। वहाँ का जिनमन्दिर, स्वाध्याय मन्दिर-प्रवचन मंडप, तथा धर्मसभा (समवसरण) आदि सभी दर्शनीय है। महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी की धर्मसभा (समवसरण) की अत्यन्त सुन्दर, कलापूर्ण रचना सोनगढ़ में की गई है। मन्दिर के पीछे यह समवसरण मन्दिर है। चारों ओर कांच के द्वार हैं। जिससे दर्शक कभी भी भीतर की रचना देख सकते हैं। काफी बड़े और स्वच्छ कमरे में यह रचना है। उसका कुछ परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

१— सर्व प्रथम धूलिसाल कोट है, जो समवसरण की मर्यादा का दर्शक है। उसके चारों तरफ स्वर्ण-स्तम्भ तथा तोरण हैं। २— धूलिसाल कोट के पास चारों दिशाओं में चार मार्ग हैं। यह मार्ग नीलमणियों के हैं। चारों प्रवेश द्वारों पर चार मानस्तम्भ हैं। ३— प्रथम भूमिका जिन मन्दिरों की है। ४— दूसरी भूमिका में गोलाकार पानी की खाई है। उसमें जलचर प्राणी कछुवा, मगर आदि और कमल है। ५— तीसरी भूमिका में लतावन (फुलवाड़ी) है, जहाँ इन्द्रादि देव विश्रान्ति करते हैं। इसी भूमिका में पर्वत भी बनाये गये हैं। ६— इसके बाद पहला स्वर्ण कोट है, जो मणियों से जड़ित है। कोट के द्वार पर अष्ट मंगल द्रव्य हैं। ७— चौथी भूमिका में उपवन (बाग) हैं, जिनमें जिन मन्दिर तथा वाटिकायें बनी हुई हैं। ८— पाँचवीं भूमिका में ध्वजा पंक्तियाँ हैं। ९— दूसरा रजत कोट होना चाहिये, किन्तु सुनहरी बनाया गया है। १०— छठी भूमिका में कल्पवृक्ष हैं, जो दस प्रकार के हैं। वे कल्पवृक्ष जिन वस्तुओं के दाता हैं, उनमें वे वस्तुयें (फूलमालायें, दीपक, ज्योति, फल, वस्त्र, मकान, आभूषण, भोजन, बाजे और बर्तन), लटका दी गई हैं। ११— सातवीं भूमिका में स्तूप मंदिर (जिन मन्दिर और देवों के निवास स्थान) हैं। १२— तीसरा कोट स्फटिक का है; किन्तु यहाँ पर उसके कंगूरे सुनहरी बनाये गये हैं। १३— आठवीं भूमिका में बारह सभायें हैं। उसके ठीक मध्य में ऊपर सफेद स्तंभयुक्त 'श्रीमंडप' है जो ध्वजा पताकादि से सुशोभित है। उस मंडप पर ऊपर से देवगण विमानों में से पुष्पवृष्टि करते हुए दिखाये गये हैं। बारह सभाओं की

रचना बहुत ही सुन्दर हैं, जो देखते ही बनती हैं। वे १२ सभायें इस प्रकार हैं:—

(१) मुनिराज (२) कल्पवासी देवियाँ (३) आर्यिका और श्राविकायें (४) ज्योतिषी देवियाँ (५) व्यंतर देवियाँ (६) भवनवासी देवियाँ (७) भवनवासी देव (८) व्यंतर देव (९) ज्योतिषी देव (१०) कल्पवासी देव (११) मनुष्य (१२) तिर्यंच।

मुनियों की सभा में वंदना करते हुये परम पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य खड़े हुए हैं, जो अत्यन्त भव्य प्रतीत होते हैं। इससे उस समय का दृश्य उपस्थित हो जाता है जब श्री कुन्दकुन्दाचार्य भरतक्षेत्र से विदेह में श्री सीमंधर भगवान के पास समोशरण में गये थे और वहाँ पर उनसे प्रश्न किये थे। सभा में सबसे आगे मुख्य गणधर बिराजमान हैं।

१४— प्रथम पीठिका वैडुर्य रत्नमय हैं, उसके ऊपर चारों ओर धर्मचक्र को लेकर यक्ष खड़े हैं। ऊपर चढ़ने के लिये सोलह सीढ़ियोंवाली नसैनी है, जिन पर चढ़कर भगवान के दर्शन किये जाते हैं। पीठिका पर चारों ओर अष्ट मंगल द्रव्य हैं। १५— दूसरी पीठिका स्वर्ण निर्मित है, जिस पर आठ महाध्वजायें हैं। १६— तीसरी पीठिका विविध प्रकार के रत्नों से निर्मित हैं। १७— तीसरी पीठिका पर सहस्त्र दलयुत लाल कमल है, जिस पर भगवान सीमंधर स्वामी की चतुर्मुखी प्रतिमा बिराजमान है। १८— भगवान पर देवगण चौंसठ चमर ढोरते हैं और ऊधर तीन छत्र शोभित हो रहे हैं। वहीं पर सुन्दर अशोकवृक्ष है। देवगण विमानों से पुष्पवृष्टि करते हुये दिखाये गये हैं।

यद्यपि अजमेर, आरा आदि नगरों में भी समवसरण की रचनायें हैं, किन्तु वे इतनी सुन्दर, व्यवस्थित और प्रभावक नहीं हैं। श्री सीमंधर स्वामी की चतुर्मुखी प्रतिमा, तथा भगवान कुन्दकुन्दाचार्य और गणधर देव की मूर्तियाँ अत्यधिक आकर्षक हैं।

यह समवसरण की रचना सोनगढ़ की ही नहीं समस्त जैन संसार की अनुपम शोभा है। सभी प्रमुख नगरों के जैन मंदिरों में यदि ऐसी रचना हो सके तो इससे जनता को काफी अच्छा ज्ञान हो सकता है। गिरनार-पालीताना आदि की यात्रा करनेवालों को उधर ही निकटस्थ सोनगढ़ के भी दर्शन करते आना चाहिये।

—परमेष्टीदास जैन

हिंदी आत्मधर्म का प्रचार के लिये दो मुमुक्षु भाइओं ने रुपया दो सौ और दो सौ मिलाकर चार सौ दिये हैं। धन्यवाद! — रवाणी

क्या धर्म का युग के साथ सम्बन्ध है ?

श्री समयसार गाथा २६७-२६८ पर पूज्य श्री कानजी महाराज के प्रवचन के आधार से

धर्माचरण के लिए जीवों को धर्म का सच्चा स्वरूप पहचानना चाहिए। धर्म वस्तु का स्वतंत्र स्वभाव है। किसी एक वस्तु का धर्म किसी दूसरी वस्तु के आधार पर अवलंबित नहीं है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से अस्तिरूप है और दूसरे की स्वभाव की अपेक्षा से नास्ति रूप है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य भिन्न हैं, भिन्न-भिन्न द्रव्य एक दूसरे की क्रिया नहीं कर सकते, इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार त्रैकालिक वस्तु स्वरूप को पहचानना ही सम्यग्दर्शनरूपी प्रथम अपूर्व धर्म है। वस्तु स्वरूप की यथार्थ पहचान के बिना किसी भी युग में धर्म नहीं हो सकता।

क्योंकि धर्म वस्तु का स्वभाव है, इसलिए उसका सम्बन्ध स्वद्रव्य के साथ है, किसी भी परद्रव्य के परिणमन के साथ आत्मधर्म का सम्बन्ध नहीं है; स्वपर्याय ही वस्तु का धर्म है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म से ही अनन्त जीवों ने आत्महित किया है। जिस उपाय से एक व्यक्ति ने आत्महित किया, प्रत्येक व्यक्ति के आत्महित के लिए वही उपाय है। यह नहीं हो सकता कि आत्महित के लिए एक व्यक्ति को अमुक उपाय हो और दूसरे व्यक्ति को उससे भिन्न। जिस उपाय से एक काल में धर्म होता है, उसी उपाय से तीनों काल में धर्म होता है। काल के बदलने से धर्म का स्वरूप नहीं बदल जाता, क्योंकि आत्मधर्म का सम्बन्ध काल के साथ नहीं है। जिस उपाय से एक क्षेत्र में धर्म होता है, उसी उपाय से सर्व क्षेत्र में धर्म होता है। क्षेत्र के बदलने से धर्म का उपाय नहीं बदल जाता। आत्मस्वभाव की सच्ची श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतारूपी जिस शुद्धभाव से एक जीव ने धर्म किया, उसी भाव से सभी जीव धर्म कर सकते हैं; उसके अतिरिक्त अन्य किसी भाव से किसी जीव के धर्म नहीं हो सकता।

यदि कोई जीव धर्म का स्वरूप यों माने कि 'एक जीव के भाव दूसरे जीव का कुछ भी नहीं कर सकते, इस प्रकार यथार्थ समझ का होना, सो चौथे काल का धर्म है, और देश के समस्त दुःखी जीवों की सहायता करके उन्हें सुखी करना, सो पंचम काल का धर्म है'—तो यह मान्यता गलत है। वस्तु का यह स्वरूप नहीं हो सकता कि चौथे काल में तो एक जीव दूसरे का कुछ न कर सके और पंचम काल में कर सके। इस काल में अथवा अनन्त काल में भी एक जीव दूसरे जीवों को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता। इस प्रकार समझ लेना सो धर्म है; किन्तु मैं अन्य जीवों को सुखी या दुःखी

कर सकता हूँ अथवा दूसरे का हिताहित कर सकता हूँ, इस प्रकार जो अज्ञानभावरूप अध्यवसाय है, वह पर में अकिंचित्कर होने से तथा अपने लिए हानिकारक होने से अधर्म है।

एक जीव के दूसरे जीवों को सुखी या दु:खी करने के भाव से दूसरे जीव सुखी या दु:खी कदापि नहीं होते; इसलिए मैं पर को सुखी या दु:खी करता हूँ अथवा मुझे कोई सुखी या दु:खी करता है; इस प्रकार की मान्यता का होना, सो मिथ्यात्व है। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा अपने भावों का कर्ता हूँ, किन्तु दूसरे जीवों के सुख-दु:ख का कर्ता नहीं हूँ, ऐसी यथार्थ मान्यता का होना, सो सम्यक्त्व है और वही धर्म है। धर्म किसी काल में नहीं बदलता। स्वर्ग में और नरक में, तिर्यंच में और मनुष्य में, आज अथवा वर्षों पहले सभी जीवों ने ऐसे सम्यग्दर्शन के द्वारा ही आत्महित किया है, कर रहे हैं और करेंगे। कोई भी क्षेत्र अथवा कोई भी काल ऐसा नहीं है जिसमें इस सम्यग्दर्शन के बिना जीव धर्म कर सकता हो।

सभी युग में धर्म का स्वरूप एक ही प्रकार का है

यह मान्यता असत्य है कि इस काल में लोगों को खाने-पीने को नहीं मिलता, इसलिए उनकी सहायता करना, सो इस काल का धर्म है। यह मान्यता असत्य इसलिये है कि पर जीव का जीवन-मरण अथवा सुख-दु:ख इत्यादि अपने द्वारा नहीं किए जाते; हाँ स्वयं उस तरह के भाव कर सकता है और उस भाव से अपने को शुभ अथवा अशुभ बंध होता है, किन्तु अन्य जीव का तो मन, वचन, काय अथवा शस्त्रादि से कुछ भी नहीं किया जा सकता। कोई यों मानता है कि देश पराधीनता की बेड़ी में जकड़ा हुआ है, उसे पहले स्वतंत्र करने पर ही धर्म किया जा सकेगा; जब तक देश परतंत्र होगा, तब तक धर्म साधन नहीं हो सकता, यह मान्यता भी अज्ञानरूप है, और यह विपरीत भाव ही दु:ख का मूल है। देश के लिए वह कुछ भी नहीं कर सकता। जो लोग देश पर राज्य करते हैं, वे अपने पुण्य के कारण करते हैं। क्या तू किसी के पुण्य को बदलने में समर्थ है ?

कई लोग यह कहा करते हैं कि जब तक देश पर शासन करनेवाले बुरे हैं, तब तक हम से धर्म नहीं हो सकता, इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक अन्य व्यक्ति अपने भावों को न सुधारे, तब तक हमें भी अपने भाव नहीं सुधारना चाहिए अर्थात् जब तक पर न सुधरे, तब तक स्वयं भी न सुधरा जाय। ऐसे पराधीन भाव में धर्म नहीं हो सकता। मैं किसी परपदार्थ के भाव का कर्ता नहीं हूँ और मेरे भाव का कोई परपदार्थ कर्ता नहीं है; परपदार्थ चाहे जैसे हों अथवा चाहे जैसी प्रवृत्ति कर रहे हों परन्तु मैं अपने जैसे भाव करूँ, वैसे भाव चाहे जब हो सकते हैं-इस प्रकार वस्तुस्वभाव की पहिचान करके अपने भावों को स्वाधीन रखना, सो धर्म है। धर्म जीव का अपना भाव (पर्याय) है।

चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग हों, तथापि जीव धर्म कर सकता है क्योंकि धर्म जीव के आधीन है।

आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है। स्वतंत्र तत्त्व की अवस्था को पर के आधीन माननेवाला अज्ञानी, जीवतत्त्व की स्वाधीनता को भूल जाता है। ज्ञानी जीव जानता है कि आत्मा में समय-समय पर ज्ञान की जो अवस्था होती है, वह मेरे आधीन है। नेत्र मंद हों, इन्द्रियाँ शिथिल हों और शरीर कृष हो, तब भी उससे मेरा ज्ञान मन्द नहीं हो जाता, क्योंकि मेरी अवस्था से मेरा अस्तित्व है, अन्य की अवस्था मुझ से भिन्न है। इस प्रकार स्व-काल से अपना अस्तित्व जाननेवाला ज्ञानी, युग का परिवर्तन होने पर अपने धर्म के स्वरूप में परिवर्तन होना नहीं मानता परन्तु स्वयं स्वतः सदा पूर्ण रहता है, ज्ञानी जानता है कि मेरी अवस्था मुझसे ही परिणमित होती है। पर ज्ञेय की अवस्था चाहे जैसी हो, उससे मेरी अवस्था परिणमित नहीं होती, बाह्य वस्तुओं के बदल जाने पर भी मेरा ज्ञान एकरूप ही रहता है-ज्ञान पर में नहीं चला जाता। समय के बदलने पर बुद्धि बदल जाती है अथवा समयानुसार धर्म ही बदलता रहता है, यह बिल्कुल गप्प है। ऐसा कदापि नहीं होता।

एक जीव दूसरे जीव को सुखी-दुःखी इत्यादि कुछ भी नहीं कर सकता, तथापि यह मानना कि मैं पर जीव को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ, निश्चय से अज्ञानमय अध्यवसान है, और वह अध्यवसान अपनी प्रयोजनभूत क्रिया (पर जीव के सुख-दुःख इत्यादि) नहीं कर सकता इसलिए मिथ्या है। इस संबंध में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने श्री समयप्राभृत में कहा है कि:—

दुक्खिदसुहिदे जीवे, करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढ़ मई, णिरत्थया साहुदे मिच्छा॥२६६॥

अर्थः—हे भाई! 'मैं जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ, बद्ध या मुक्त कराता हूँ' इस प्रकार की जो तेरी यह मूढ़ मति है, वह निरर्थक होने से वास्तव में मिथ्या है।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव कृत टीका

मैं पर जीवों को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बंधाता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि जो ममत्व बुद्धि है, वह सब परभाव का पर में व्यापार न होने से अपनी अर्थक्रिया को करनेवाला न होने से आकाश के कुसुमों को चूंट रहा हूँ, इसी माफक मिथ्या है, वह केवल अपने अनर्थ के ही लिए है (अर्थात् वह मात्र अपने लिए ही हानि का कारण होता है, पर का तो कुछ भी नहीं कर सकता)।

यदि मैं पर जीवों को सुखी करूँगा तो उसे धर्म होगा, इस प्रकार की मान्यता मिथ्यात्व है। क्योंकि अपने भाव के कारण पर जीव कदापि सुखी नहीं होते। किसी एक जीव के भाव का फल दूसरे में नहीं जाता। किस काल में एक जीव के विचार से दूसरे जीव में परिवर्तन होता है? किस

काल में दूसरे जीव के विचार का असर इस जीव पर होता है ? सच तो यह है कि कदापि ऐसा होता ही नहीं। क्या वस्तु का स्वरूप कभी बदल जाता है ? वस्तु का स्वभाव ही जैनधर्म है और वस्तु का स्वभाव त्रिकाल एकरूप है; इसलिए जैनधर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता।

जैनदर्शन न तो कोई कल्पना है और न अमुक काल के लिए प्रवर्तित मार्ग ही, परन्तु वह वस्तु स्वभाव-प्रदर्शक मार्ग है। वस्तुएँ अनादि-अनन्त हैं, इसलिए उनका प्रदर्शक धर्म अनादि - अनन्त है। धर्म किसी व्यक्ति कृत नहीं है परन्तु स्वभावसिद्ध है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से स्वतंत्र और परिपूर्ण है, उसका प्रदर्शक जैनधर्म है। जैनधर्म का अर्थ है, वस्तु धर्म और वस्तु धर्म का अर्थ है विश्वधर्म। आत्मा की एक समयमात्र की विकारी पर्याय को गौण करके त्रैकालिक अखंड परिपूर्ण ज्ञायकस्वभाव का दर्शन करना, सो जैनदर्शन है। वस्तु-प्रदर्शक धर्म को काल की मर्यादा नहीं होती, सत्य धर्म-त्रिकाल एक ही होता है, इसलिए किसी वस्तु अथवा उसके धर्म पर किसी परपदार्थ का असर नहीं होता। जैनधर्म का कथन त्रैकालिक वस्तुस्वभाव पर अवलंबित है, अनुभव जैनधर्म की नींव है, युक्तिवाद (अनेकान्त) जैनधर्म का आत्मा है। स्वभाव-आश्रित प्रवर्तमान सत्य धर्म किसी के द्वारा नहीं रोका जा सकता, जो उसे रोकना चाहेगा, वह स्वयं ही परभावरूप होकर चार गति में अटक जायगा।

जैनधर्म स्वाधीन है क्योंकि वह वस्तु के स्वाधीन स्वरूप को बतानेवाला है। लोक में भी कहा जाता है कि स्वाधीनता के बराबर सुख नहीं और पराधीनता के बराबर दु:ख नहीं। स्वाधीनता और पराधीनता का सच्चा अर्थ तत्त्वज्ञानियों ने इस प्रकार बताया है—

विश्व में रहनेवाले जीव, स्वभाव और पराश्रयभाव कर सकते हैं। इनमें से स्वाश्रय से होनेवाला भाव शुद्ध है और वही धर्म है; पराश्रय से होनेवाला भाव अशुद्ध है, उसके दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। वह दोनों प्रकार के अशुद्धभाव संसार के कारण हैं अर्थात् अधर्म हैं। स्वाश्रयभाव अपने स्वभाव के लक्ष्य से होता है, और पराश्रयभाव सदा परावलंबन चाहता है। जैसे किसी जीव को मारने का भाव हुआ तो वह पर जीव का लक्ष्य किये बिना नहीं होता, इसी प्रकार किसी को सुविधा देने का भी पर की ओर का लक्ष्य किए बिना नहीं होता, इसलिए वे दोनों (शुभ अशुभ) भाव पराधीन-विकारी हैं। जैन सभी जीवों को पाप करने से रोकता है, और सभी पापों से आत्मस्वरूप का भ्रम सबसे बड़ा पाप है, उस महापाप को दूर किये बिना किसी जीव के धर्म नहीं हो सकता, इसलिए जैनधर्म सर्व प्रथम आत्मस्वरूप की पहिचान के द्वारा सम्यग्दर्शनरूपी धर्म को करने का आदेश देता है। दर्शनविशुद्धि जैनधर्म का मूल है।

श्री समयसार की इस २६६ वीं गाथा में श्री कुंदकुंदाचार्यदेव यह समझाते हैं कि हे भाई! तेरे भाव का प्रभाव पर के ऊपर नहीं होता तथा पर के भाव का तेरे ऊपर प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ भी नहीं कर सकता, इसलिए तू परपदार्थ का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव में लक्ष्य कर। यही सुख का उपाय अर्थात् धर्म है। किसी जीव के भाव का फल किसी अन्य में नहीं आता।

किस काल में एक जीव के विचार से दूसरे जीव का कार्य होता है? और किस काल में दूसरे जीव के विचार से इस जीव का कार्य होता है? एक जीव को ऐसा विचार आये कि मैं समस्त जगत को सुखी कर दूँ परन्तु जगत के सब जीव तो अपने-अपने परिणामानुसार स्वयं ही सुखी अथवा दुःखी होते हैं; वहाँ इस जीव के विचार के प्रभाव से कोई जीव सुखी नहीं हो जाता, इसीलिए पर को सुखी अथवा दुःखी करने का अज्ञानजनित भाव मिथ्या है। यह जीव साक्षात् भगवान के पास बैठा हो तो वह भगवान के प्रभाव से धर्म को समझ लेगा—यह बात भी गलत है। भगवान को पहले जगत को धर्म प्राप्त कराने की भावना थी, उस भावना से दूसरे को लाभ नहीं होता। अपने शुभभाव का फल अपने में आता है—पर में नहीं आता, इस प्रकार की जो वस्तुस्वभाव की स्वतंत्रता की समझ है, वही त्रिकाल का एक धर्म है। ऐसी समझ होने पर अनन्तानन्त परद्रव्यों पर से अहंकार और सुखबुद्धि दूर हो जाती है और अपने स्वभाव की अनन्त दृढ़ता हो जाती है, जिसका फल तत्काल अनन्त शान्ति है और वही मुक्ति का कारण है।

एक जीव के भाव दूसरे जीव पर असर नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्येक जीव अपनी अपेक्षा से अस्तिरूप है और परापेक्षा से नास्तिरूप है। ऐसा होने से इस जीव के पर को सुखी करने की भावना होने पर भी प्रस्तुत जीव उसके कारण अज्ञानभाव से दुःखी होता हुआ दिखायी देता है और इस जीव के प्रस्तुत जीव को दुःखी करने का भाव होने पर भी प्रस्तुत जीव अपने ज्ञानजनित परिणाम के कारण सुखी होता हुआ दिखायी देता है; इसलिए एक जीव के परिणाम दूसरे में अकिंचित्कर है। इस सम्बन्ध में निम्न प्रकार चौभंगी हो सकती है:—

(१) इस जीव के ऐसी बुद्धि होती है कि मैं पर जीव को बाँधू तथा प्रस्तुत जीव अपने वीतराग परिणाम के कारण बद्ध नहीं होता, इसलिए वह बुद्धि मिथ्या है।

(२) इस जीव के ऐसा भाव होता है कि मैं पर जीव को मुक्त करूँ, तथापि प्रस्तुत जीव अपने सराग परिणाम के कारण मुक्त नहीं होता, इसलिए यह बुद्धि मिथ्या है।

(३) इस जीव के ऐसा भाव होता है कि मैं इस जीव को बाँधू, तथापि यह जीव अपने वीतराग परिणाम के कारण नहीं बँधता, इसलिए उपरोक्त बुद्धि मिथ्या है।

(४) पर जीव के ऐसा भाव होता है कि मैं इस जीव को मुक्त करूँ, तथापि यह जीव अपने सराग परिणाम के कारण मुक्त नहीं होता, इसलिए उपरोक्त बुद्धि मिथ्या है।

परवस्तु में कुछ भी करने की बुद्धिरूप जो यह अज्ञानजनित परिणाम है, सो जीव के लिए स्वयं ही बंध का कारण है और ज्ञानजनित परिणाम ही मुक्ति का कारण है। इसलिए हे भाई! मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के राग परिणाम से ही जीव, बन्ध को प्राप्त होते हैं, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप वीतराग परिणाम से ही मुक्त होते हैं; तब उन जीवों के बंधन अथवा मुक्ति में अन्य प्राणियों के भावों ने क्या किया? कुछ भी नहीं किया – यह समझकर परपदार्थ की ओर से लक्ष्य को हटाकर, स्वभाव की ओर उन्मुख होना, सो धर्म है। ऐसा ही त्रिकाल का वस्तुस्वरूप है। इस वस्तुस्वरूप से विपरीत किसी भी मान्यता से कदापि धर्म नहीं होता।

एक जीव दूसरे जीव को सुखी करने का अथवा मुक्त करने का अध्यवसाय करे किन्तु वह जीव अपने अज्ञानभाव से दु:खी होकर बंध कर रहा हो, तब वहाँ दूसरे के भाव किस काम के? इसलिए हे भाई! तेरी यह भावना निरर्थक है, अज्ञानमय है कि मैं पर जीवों को सुखी-दु:खी करूँ। पर के लिए तेरे द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता, प्रत्युत वह भावना तेरे लिए स्वयं अनर्थ कर्ता है। मैं अन्य जीव के लिए कुछ कर सकता हूँ—ऐसी मिथ्यामान्यतावाला जीव अपने शुद्ध चैतन्य प्राणों का अज्ञानरूपी तीक्ष्ण शस्त्रों से घात करता है, क्योंकि उस जीव ने अपने को कर्तास्वरूप माना है किन्तु ज्ञायकस्वरूप नहीं माना। यह मान्यता ही आत्मा के शुद्धभाव की घातक है।

चाहे जिस संयोग के समय भी एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। अपना चैतन्यस्वरूप अपने में है। अपने चैतन्यस्वभाव को भूलकर पर में अच्छाई को मानना ही हिंसा और अनन्त पाप है। समझ ही धर्म है और अज्ञान ही संसार है। अनादि काल से यथार्थ चैतन्यस्वरूप को नहीं जाना और वस्तुस्वरूप को समझे बिना कदापि भव का अन्त नहीं आ सकता, इसलिए हे जीव! चैतन्यस्वरूप की रुचि कर, उसकी प्रतीति कर और इस चैतन्यस्वभाव के बल से रागादि के सन्मुख अकेला जूझ। तेरे अपार स्वभाव को हानि पहुँचाने में कोई अन्य द्रव्य समर्थ नहीं है। पर से न तो धर्म है और न हानि, इसलिए व्यर्थ ही पर का अहंकार मत कर। पर से धर्म मानना अज्ञान है। प्रत्येक ज्ञानी अथवा अज्ञानी जीव स्वतंत्र हैं। किसी के अभिप्राय को बदल

सकने के लिए कोई समर्थ नहीं है। अज्ञानी को उसके अज्ञानभाव से ही हानि है, पर से नहीं। अपने स्वभाव की शंका से अपने को हानि है और अपने स्वभाव की नि:शंकता से अपने को लाभ है। आत्मस्वरूप की रुचि, प्रतीति, नि:शंकता और उसरूप परिणमन ही धर्म है।

धर्म की व्याख्या करते हुए भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव भावपाहुड में कहते हैं—

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैशासने भणितम्।
मोहक्षोभ विहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः ॥८३॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में यह कहा है कि पूजादिक तथा व्रतादिक पुण्य हैं और मोह (मिथ्यादर्शन) तथा क्षोभ (चारित्रमोह) रहित जो आत्मा का परिणमन है, सो धर्म है।

जैनधर्म तो वीतराग शासन है, यह कोई वेश अथवा परिधि-गुट्ट नहीं है। वीतरागता से जैनधर्म है। जैनधर्म में राग को स्थान नहीं है, भले ही वह राग साक्षात् भगवान पर ही क्यों न हो किन्तु जो राग है, वह जैनशासन नहीं है। साक्षात् भगवान के ऊपर का राग भी धर्म नहीं है, तब फिर अन्य जीवों को बचाने अथवा मारने का जो शुभाशुभभाव है, वह धर्म कैसे हो सकता है ?

प्रश्नः—धर्म तो दो प्रकार के हैं न ? एक मुनिधर्म और दूसरा श्रावकधर्म; इनमें से श्रावक को तो परजीव को दु:खी देखकर दया आती ही है, इसलिए परजीव की दया श्रावकधर्म है या नहीं ?

उत्तरः—नहीं, वास्तव में धर्म के दो प्रकार हैं ही नहीं। मुनि और श्रावक का भेद मात्र राग की अपेक्षा से है। उन दोनों दशाओं में जितना राग है, उतना धर्म नहीं है किन्तु आत्मप्रतीतिसहित जितना वीतरागभाव करे, उतना ही धर्म है। वीतरागभाव तो त्रिकाल में एक ही तरह का है, इसलिए धर्म त्रिकाल एकरूप है। तीनों काल के अनन्त तीर्थंकरों की प्ररूपणा में धर्म का स्वरूप एक ही प्रकार का कहा गया है। जैसे त्रिकाल में लड्डू, गुड़, घी और आटे का ही बनता है, कहीं घी की जगह पानी, गुड़ की जगह गोबर और आटे की जगह धूल का उपयोग नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा की मोक्षदशा को प्रगट करने का मार्ग त्रिकाल में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही है; इनके बिना कभी भी अन्य उपाय से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

उपरोक्त प्रश्न में यह भी कहा गया है कि परजीव की दया का पालन करना श्रावकधर्म है या नहीं ? किन्तु यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि पहले तो जीव को जो राग उत्पन्न होता है, वह राग परजीव को दु:खी देख नहीं होता किन्तु अपनी कमजोरी के कारण उत्पन्न होता है, इसलिए उस

राग को दूर करना ही अपना कर्तव्य है। किसी जीव के दु:ख को दूर करने का कर्तव्य यह जीव नहीं कर सकता। यदि अन्य जीव को दु:खी देखकर दया का राग उत्पन्न होता हो तो केवली भगवान के भी वैसा राग होना चाहिए। क्योंकि वे भी उसे देखते हैं, किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। दूसरे यह बात भी नहीं है कि जब तक दूसरा जीव दु:खी होता है, तबतक उसके ऊपर का राग दूर नहीं होता। एक जीव दु:खी होने पर भी स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव में रहकर वीतराग हो सकता है। जीव को अस्थिरता के समय अन्य जीव को दु:खी न करने के शुभभाव होते हैं, वे शुभभाव पर के लिए नहीं किन्तु अपना योग तीव्र राग में न हो जाय, इसलिए तीव्र अशुभ से बचने के लिए स्वयं शुभराग करता है। उसमें जितना राग दूर होता है, उतना अपने को लाभ है। और जो कुछ राग रह जाता है, उतनी अपनी अवस्था में हानि है तथा संपूर्ण ज्ञानस्वभाव में राग का सर्वथा अभाव है। ऐसे स्वभाव की प्रतीति और स्थिरता के बल से वह अवशिष्ट राग भी अल्प काल में दूर होकर मुक्तदशा प्राप्त हो जाती है।

मैं यह आत्मा ज्ञानानन्द मूर्ति हूँ, किसी पर के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है, विकार के समय भी मेरा ज्ञान उस से पृथक् का पृथक् रहता है। यदि जीव इस प्रकार आत्मस्वरूप की प्रतीति और स्थिरता करे तो वह बंध को प्राप्त नहीं होता, और मेरा किसी भी पर के साथ सम्बन्ध है या विकार के साथ मेरा ज्ञान भी विकाररूप हो जाता है—ऐसी मान्यतारूप अज्ञानभाव से ही जीव बंध को प्राप्त होता है, किन्तु कोई परजीव उसे मुक्त अथवा बंधनबद्ध नहीं कर सकता। जब तक यह बात ठीक समझ में न आये, तब तक पहले ही यह निर्णय करने का बारम्बार प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसमें आचार्यदेव ने बंध भाव और अबंध भाव की पहिचान कराकर भेदज्ञान कराया है। अपने अबंधस्वभाव को लक्ष्य में लेकर सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और स्वरूप रमणता करके जीव मुक्तदशारूप में परिणमित हो जाता है।

''अहो आचार्यदेव ने महान शास्त्रों की रचना करके जगत के जीवों पर परम उपकार किया है'' इस प्रकार विनयपूर्वक कहा जाता है। परन्तु वास्तव में जीवों के कारण आचार्यों ने शास्त्रों की रचना नहीं की है, क्योंकि किसी जीव का असर अन्य जीव पर कदापि नहीं पड़ता। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्यों ने शास्त्रों की रचना किसलिए की ? इसका उत्तर यह है कि आचार्यदेव आत्मस्वरूप में रमण करते हुए सातवें-छट्ठे गुणस्थान में झूल रहे थे और जब स्वयं अपने स्वरूपानुभव में निर्विकल्प होकर टिक नहीं सकते, तब उन्हें छठे गुणस्थान के योग्य

मुख्यतया शास्त्र रचना का विकल्प उठता है, क्योंकि आचार्यदेव के अपना ज्ञान स्थिर रहकर अटूट ज्ञानधारा से केवलज्ञान को प्रगट करने की भावना है, इसलिए निमित्तरूप से बाह्य में भी ज्ञानप्रवाह को अविच्छिन्न स्थिर रखने के हेतुरूप शास्त्र रचना का विकल्प उठता है, और इसलिए शास्त्र रचना होती है। जो लोग, शास्त्र के भाव को समझते हैं, वे भक्तिवश यह कहते हैं कि अहो! आचार्यों ने शास्त्रों की रचना करके महान उपकार किया है। इस प्रकार यह विनय प्रगट करने की रीति है।

यह कथन भी परमार्थतः ठीक नहीं है कि 'लोग पशु हिंसा कर रहे थे, तब भगवान महावीर ने उसे रोका था। क्योंकि एक जीव के पशु हिंसा के भावों को दूसरा जीव नहीं रोक सकता। अन्य जीवों की अवस्था में भगवान के कारण परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु जिन जीवों में योग्यता-पात्रता विद्यमान थी उनने अपने भाव से कषाय को कम किया और इसलिए वे पशु हिंसा के भाव करते हुए रुक गये। भगवान महावीर ने उन्हें नहीं रोका, किन्तु उन जीवों के लिए भगवान का उपदेश मात्र निमित्तरूप हो गया, इसलिए उस उपदेश की उपस्थिति का ज्ञानमात्र कराने के लिए निमित्त से ऐसा कथन किया जाता है कि भगवान महावीर के उपदेश से पशु हिंसा रुक गई थी। वास्तव में एक जीव दूसरे जीव के परिणाम-भाव को कुछ भी नहीं कर सकता, इस मूलभूत वस्तु स्वरूप को लक्ष्य में रखकर उसके अर्थ को समझना चाहिए।

यह स्वतंत्र सत्य है। विश्व की वस्तुओं का ऐसा ही स्वरूप है और इसे समझना ही धर्म है। इससे भिन्न किसी भी भाव से धर्म नहीं हो सकता और धर्म के बिना सुख नहीं हो सकता। आत्मा स्वयं अपनी रुचि के अनुसार पुरुषार्थ के द्वारा अपने आधार से धर्मरूप होता है। आत्मा का धर्म आत्मा में ही है, वह किसी पर के आधार पर अवलंबित नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही धर्म स्वरूप है, तथापि उसे अपने स्वरूप की अनादिकाल से खबर नहीं है—श्रद्धा नहीं है, इसीलिए उसे अपना धर्म प्रगटरूप में अनुभव में नहीं आता। अपने धर्म स्वरूप में शंका, विपर्यय अथवा अनिर्णय (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) ही अधर्म है, और उस अधर्म का फल संसार है। उस अधर्म को दूर करने के लिए अनन्त ज्ञानियों के द्वारा कहा गया एकमात्र उपाय अपने स्वाधीन धर्मस्वभाव की पहचान ही है। जिस समय अपने आत्मधर्म की पहचान करता है, वह समय आत्मा का 'युगधर्म' है अर्थात् स्व-पर्याय है। 'युग'=काल, 'पर्याय'=अवस्था, 'धर्म'=स्वभाव अपनी स्वभावरूप दशा ही अपना 'युगधर्म' है। काल के किसी परिणमन के साथ आत्मधर्म का संबंध नहीं है।

प्रभुता और पामरता

जैसे जैसे पर्याय बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे विवेक और नम्रता बढ़ती जाती है। ज्ञानी को यह प्रतीत है कि मैं स्वभाव से पूर्ण परमात्मा हूँ, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से पामर हूँ, अर्थात् द्रव्य से प्रभु और पर्याय से पामर हूँ। इस प्रकार अपने ज्ञान में द्रव्य-पर्याय की सन्धि करनेवाले ज्ञानी पूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख होते हैं। वे जैसे-जैसे पूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख होते जाते हैं, वैसे-वैसे पर्याय की निर्मलता बढ़ती जाती है। पूर्ण स्वभाव की ओर जोर है और पर्याय की निर्मलता बढ़ रही है, तब वहाँ ज्ञानी के उस पर्याय का अहंकार उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत स्वभाव की ओर विशेष नम्रता पूर्वक भावना करता है कि—''अहो! स्वरूप से तो मैं पूर्ण परमात्मा ही हूँ, तथापि अभी पर्याय में पामरता है। मुझे परिपूर्ण केवलदशा प्राप्त करनी है, वहाँ अभी अनंतवें भाग में ही वह दशा प्रगट हुई है। मैं उस अपूर्णता को पूर्ण स्वभाव के बल से जिस समय दूर कर दूँगा, वह क्षण धन्य होगा'' इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में पूर्णता ही है, उसके ज्ञान में पूर्ण स्वभाव और अपूर्ण दशा दोनों की प्रतीति है, और पूर्णता की भावना है, इसलिए स्वभाव के बल से सम्पूर्ण स्थिरता को प्रगट करके अल्प काल में ही अपूर्णता को दूर करके वे पूर्ण हो जाते हैं, यह पूर्ण स्वभाव की दृष्टि का ही फल है।

ज्ञानस्वभाव की महिमा : अल्पकाल में मुक्ति

१— अरे आत्मा! तू राग को अपना मान रहा है, इसलिए तेरे ऊपर समस्त ज्ञायकस्वभाव की हत्या का कलंक आता है। तू अपने ज्ञानस्वभाव की शुद्धि को देख। यह रागभाव तो उपाधि है-कलंक है। ज्ञेय अनंतानंत हैं, उनकी कोई महिमा नहीं है किन्तु उन अनंतानंत ज्ञेयों को निर्विकल्प निःशंक जाननेवाले ज्ञानस्वभाव की महिमा है। (गाथा ९१)

२—परवस्तु अनंत हैं। जो अपने को पर का कर्ता मानता है, उसका अनंत वीर्य परलक्ष्य में

लग जाता है और इस प्रकार वह अनंत परपदार्थों के कर्तृत्व का अहंकार करने लगता है, इसलिये वह अनंत संसार में परिभ्रमण करेगा और जिसने पर से भिन्न अपने ज्ञायकस्वरूप को जानकर पर के कर्तृत्व को उड़ा दिया है, उसका अनंत वीर्य, पर की ओर से खिंचकर स्व की ओर लग गया है; इसलिये स्व की अनंत दृढ़ता हो गई। स्व की अनंत दृढ़ता होने पर ही अल्प काल में उसकी मुक्ति हो जायगी। (कलश ५५)

पात्रता की पहली सीढ़ी

गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग

[लेखक : श्री रा. मा. दोशी]

मिथ्यात्व का अर्थ

पहले हम यह देख लें कि मिथ्यात्व का अर्थ क्या है और मिथ्यात्व किसे कहते हैं एवं उसका वास्तविक लक्षण क्या है ?

मिथ्यात्व में दो शब्द हैं (१) मिथ्या और (२) त्व। मिथ्या अर्थात् असत् और त्व अर्थात् पन। इस प्रकार खोटापन, विपरीतता, असत्यता, अयथार्थता, इत्यादि अनेक अर्थ होते हैं।

यहाँ पर यह देखना है कि जीव में निज में मिथ्यात्व या विपरीतता क्या है क्योंकि जीव अनादि काल से दु:ख भोगता रहता है और वह उसे अनादि काल से मिटाने का प्रयत्न भी करता रहता है किन्तु वह न तो मिटता है और न कम होता है। दु:ख समय-समय पर अनंत होता है और वह अनेक प्रकार का है। पूर्व पुण्य के योग से किसी एक सामग्री का संयोग होने पर उसे ऐसा लगता है कि मानों एक प्रकार का दु:ख कम हो गया है किन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो सचमुच

में उसका दु:ख कम नहीं हुआ है; क्योंकि जहाँ एक प्रकार का दु:ख गया नहीं कि दूसरा दु:ख आ उपस्थित होता है।

मूलभूत भूल के बिना दु:ख नहीं होता। दु:ख है, इसलिये भूल होती है और भूल ही इस महा दु:ख का कारण है। यदि वह भूल छोटी हो तो दु:ख कम और अल्प काल के लिये होता है, किन्तु यह बहुत बड़ी भूल है, इसलिये दु:ख बड़ा और अनादि काल से है। क्योंकि दु:ख अनादि काल का है और वह अनंत है, इसलिये यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व अर्थात् जीव संबंधी विपरीत समझ-भूल सबसे बड़ी और अनंती है। यदि भयंकर भूल न होती तो भयंकर दु:ख न होता। महान् भूल का फल महान दु:ख है, इसलिये महान् दु:ख को दूर करने का सच्चा उपाय महान् भूल को दूर करना है।

दु:ख का होना निश्चित करें

कोई कहता है कि जीव के दु:ख क्यों कहा जाय? रुपया-पैसा हो, खाने-पीने की सुविधा हो और जो चाहिये वह मिल जाता हो फिर भी उसे दु:खी कैसे कहा जाय?

उत्तर— भाई! तुझे पर वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा होती है या नहीं? तेरे मन में अंतरंग से यह इच्छा होती है या नहीं कि मेरे पास पर सामग्री रुपया पैसा इत्यादि हो तो ठीक हो और यह सब हो तो मुझे सुख हो; इसप्रकार की इच्छा होती है, सो यही दु:ख है। क्योंकि यदि तुझे दु:ख न हो तो परवस्तु प्राप्त करके सुख पाने की इच्छा न हो।

यहाँ पर अज्ञानपूर्वक इच्छा की बात है क्योंकि अज्ञान-भूल के दूर होने पर अस्थिरता को लेकर होनेवाली जो इच्छा है, उसका दु:ख अल्प है। मूल दु:ख अज्ञानपूर्वक इच्छा का ही है। इच्छा कहो, दु:ख कहो, आकुलता कहो अथवा परेशानी कहो सब का अर्थ एक ही है। यह सब मिथ्यात्व का फल है। अपने स्वरूप की अप्रतीत दशा में इच्छा के बिना जीव का एक समय भी नहीं जाता। निरंतर अपने को भूलकर इच्छा होती ही रहती है और वही दु:ख है।

जीव की सबसे बड़ी भयंकर भूल होती है, इसलिये महान् दु:ख है। अर्थात् जीव के एक के बाद दूसरी इच्छा डयोढ़ लगाये रहती है और वह रुकती नहीं है यही महान् दु:ख है। उसका कारण मिथ्यात्व-विपरीत मान्यता-महान् भूल है। मिथ्यात्व क्या है? वह यहाँ पर कहा जाता है।

मिथ्यात्व क्या है?

यदि मिथ्यात्व द्रव्य अथवा गुण हो तो उसे दूर नहीं किया जा सकता; किन्तु यदि वह मिथ्यात्व, पर्याय हो तो उसे बदलकर मिथ्यात्व दूर किया जा सकता है।

मिथ्यात्व-विपरीतता है। विपरीतता कहते हो यह सिद्ध हुआ कि उसे बदलकर सीधा (यथार्थ) किया जा सकता है। मिथ्यात्व जीव के किसी एक गुण की विपरीत अवस्था है और यह अवस्था है, इसलिये समय-समय पर बदलती है। इसलिये मिथ्यात्व एक समय की अवस्था होने से दूर किया जा सकता है।

जीव के किस गुण की विपरीत अवस्था मिथ्यात्व या भूल है ?

मैं कौन हूँ ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? जो वह क्षणिक सुख-दुःख का अनुभव होता है वह क्या है ? पुण्य-पाप का विकार क्या है ? पर वस्तु देहादि मेरे हैं या नहीं ?-इस प्रकार स्व-पर की यथार्थ मान्यता करनेवाला जो गुण है, उसकी विपरीतदशा मिथ्यात्व है अर्थात् आत्मा में मान्यता (श्रद्धा) नाम का त्रिकाल गुण है और उसकी विपरीत अवस्था मिथ्यात्व है।

जीव की जैसी विपरीत मान्यता होती है, वह वैसा ही आचरण करता है अर्थात् जहाँ जीव की मान्यता में भूल होती है, वहाँ उसका आचरण विपरीत ही होता है। जीव की मान्यता उल्टी हो और आचरण सच्चा हो, ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। जहाँ विपरीत मान्यता होती है, वहाँ ज्ञान भी उल्टा ही होता है।

'मिथ्या' का अर्थ है विपरीत, उल्टा अथवा झूठा और 'त्व' अर्थात् उससे युक्त। यह भूल बहुत बड़ी और भयंकर है, क्योंकि जहाँ मिथ्या-मान्यता होती है, वहाँ आचरण और ज्ञान भी मिथ्या होता है और उस विपरीतता में महान् दुःख होता है। ऐसी मिथ्यात्वरूपी भयंकर भूल क्या है ? इस संबंध में विचार करते हैं।

स्वरूप की मान्यता करनेवाला श्रद्धा नाम का जीव का जो गुण है, उसे स्वयं अपने आप उल्टा किया है, उसी को मिथ्यामान्यता कहा जाता है। वह अवस्था होने से दूर की जा सकती है।

उस भयंकर भूल को कौन दूर कर सकता है ?

वह जीव की अपनी अवस्था है, इसलिये जीव उसे स्वयं दूर कर सकता है। अपने स्वरूप की जो सबसे बड़ी घोरातिघोर भयंकर भूल है, वह कब से चली आ रही है ?

क्या वर्तमान में तेरे वह भूल विद्यमान है ? यदि वर्तमान में भूल है तो पहले भी भूल थी, और यदि पहले बिल्कुल भूल रहित हो गया होता तो वर्तमान में भूल नहीं होती। पहले पक्की-कभी न हटनेवाली यथार्थ समझ-मान्यता कर ली हो और वह यदि दूर हो गई हो तो ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

जिसे थोड़ा सच्चा ज्ञान हुआ हो, वह ज्ञान में कभी भूल नहीं होने देता। जैसे मैं दशाश्रीमाली वणिक् हूँ; इसप्रकार का ज्ञान स्वयं कभी भूल नहीं जाता; मैं दशाश्रीमाली वणिक हूँ, यह नाम तो जन्म होने के बाद स्वयं माना है.... २५-५० वर्ष से शरीर का नाम मिला है; आत्मा कुछ स्वयं बनिया नहीं है, तथापि वह रटते-रटते कितना दृढ़ हो गया है ? जब भी बुलावें तब कहता है कि 'मैं बनिया हूँ, मैं कोली भील नहीं हूँ' इसप्रकार अल्प वर्षों से मिले हुये शरीर का नाम भी नहीं भूलता तो परवस्तु-शरीर-वाणी मन, बाहर के संयोग तथा पर की ओर का झुकाव से होनेवाले राग-द्वेष के विकारी भावों से भिन्न अपने शुद्ध आत्मा का पहले पक्का ज्ञान और सच्ची समझ की हो तो उसे कैसे भूल सकता है ? यदि पहले पक्की सच्ची समझ की हो तो वर्तमान में विपरीतता न हो; चूँकि वर्तमान में विपरीतता दिखाई देती है, इससे सिद्ध है कि पहले भी जीव ने विपरीतता की थी।

तू आत्मा अनंत गुण का पिंड अनादि-अनंत है। उन अनंत गुणों में एक मान्यता-श्रद्धा नाम का गुण की अवस्था तेरी विपरीतता से अनादि काल से स्वयं विपरीत करता आया है और उसे तू आगे ही बढ़ाता चला जा रहा है। वह भूल-विपरीतता वर्तमान अवस्था में है, इसलिये वह टाली जा सकती है।

अगृहीत मिथ्यात्व

तू अनादि काल से आत्मा नामक वस्तु है। मैं जन्म से मरण तक ही होता हूँ; इस प्रकार की धारणा, विपरीत धारणा है क्योंकि जिस वस्तु को कभी किसी ने उत्पन्न ही नहीं किया, उस वस्तु का कभी नाश नहीं हो सकता। मैं जन्म से मरण तक ही हूँ - ऐसी जीव की महाविपरीत मान्यता है। क्योंकि जीव यह मानता है कि मेरे मरण के बाद जो पैसा रहेगा, उसका बिल करूँ, परंतु वह यह नहीं विचार करता कि मरने के बाद मैं न जाने कहाँ जानेवाला हूँ; इसलिये अपने आत्म कल्याण के लिये कुछ करूँ। अनादि काल से चली आनेवाली और किसी के द्वारा न सिखाने पर भी बनी हुई जो महाविपरीत मान्यता है, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ऐसी विपरीत मान्यता स्वयं अपने आप ही करता है, उसे कोई सिखाता नहीं है। जैसे बालक को रोना सिखाना नहीं पड़ता; उसी प्रकार मैं जन्म-मरण तक ही हूँ; इसप्रकार की मान्यता किसी के सिखाये बिना ही हुई है। जो शरीर है, सो मैं हूँ। रुपया पैसा में मेरा सुख है, इत्यादि परवस्तु में अपनेपन की जो मान्यता है, सो अगृहीत विपरीत मान्यता है, जो जीव के अनादि काल से चली आ रही है।

जो शरीर है, सो मैं हूँ। शरीर के हलन-चलन की क्रिया मैं कर सकता हूँ, इस प्रकार अज्ञानी

जीव मानता है और शरीर को अपना मानने से बाहर की जिस वस्तु में शरीर को सुविधा मानता है, उस पर प्रीति और राग हुये बिना नहीं रहता। इसलिये उसके अव्यक्तरूप में ऐसी मान्यता बन जाती है कि मुझे पुण्य से सुख होता है। बाहर की सुख सुविधा का कारण पुण्य है। यदि मैं पुण्य करूँ तो मुझे उसका फल मिलेगा, इस प्रकार किसी के द्वारा सिखाये बिना ही अनादि काल से मिथ्याज्ञान चला आ रहा है। जीव यह अनादि काल से मान रहा है कि मुझे पुण्य से लाभ होता है और पर का कुछ कर सकता हूँ।

जिसने यह माना कि शरीर मेरा है और यद्यपि किसी पर से सुख सुविधा नहीं होती, तथापि जिस पदार्थ से वह अपने शरीर के लिये सुख सुविधा होती हुई मानता है, उस पर उसे प्रीति होती है। और वह यह मानता है कि पुण्य से शरीर को सुख सुविधा मिलती है, इसलिये अनादि काल से यह मान रहा है कि पुण्य से लाभ होता है। पुण्य से मुझे लाभ होता है और जो शरीर है, सो मैं हूँ तथा मैं शरीर के कार्य कर सकता हूँ; इस प्रकार की विपरीतमान्यता अनादि काल से किसी के द्वारा सिखाये बिना ही जीव के चली आ रही है, यही महाभयंकर दु:ख की कारणरूप भूल है। पाप करनेवाला जीव भी पुण्य से लाभ मानता है क्योंकि वह स्वयं अपने को पापी नहीं कहलवाना चाहता, अर्थात् स्वयं पाप करते हुए भी उसे पुण्य अच्छा लगता है। इस प्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अनादि काल से पुण्य को भला-हितकर मान रहा है।

अनादि काल से जीव ने पुण्य अर्थात् शास्त्रीय भाषा में कथित मंद कषाय में लाभ माना है। वह यह मानता ही रहता है कि शरीर तथा शरीर के काम मेरे हैं और शरीर से तथा पुण्य से मुझे लाभ होता है। वह जिसे अपना मानता है, उसे हेय क्यों मानेगा? यह महाभयंकर भूल निगोद से लेकर जगत् सर्व अज्ञानी जीवों के होती है और यही अगृहीत मिथ्यात्व है।

गृहीत मिथ्यात्व

निगोद से निकले हुये जीव को कभी मंद कषाय से मन प्राप्त हुआ और संज्ञी पंचेन्द्रिय हुये, उनके विचारशक्ति प्राप्त हुई और वे यह सोचने लगे कि मेरा दु:ख कैसे मिटे; तब पहले "जीव क्या है?" यह विचार किया, इसका निश्चय करने के लिये दूसरे से सुना अथवा स्वयं पढ़ा, वहाँ उल्टा नया भ्रम उत्पन्न हो गया। वह नया भ्रम क्या है? दूसरे से सुनकर यों मानने लगा कि जगत् में सब मिलकर एक ही जीव है, शेष सब भ्रम हैं, या तो गुरु से हमें लाभ होगा अथवा भगवान की कृपा से हम तर जायेंगे या किसी के आशीर्वाद से कल्याण हो जायगा अथवा वस्तु को क्षणिक मानकर

वस्तुओं का त्याग करें तो लाभ होगा अथवा मात्र जैनधर्म ने ही सच्चाई का ठेका नहीं लिया, इसलिये जगत् के सभी धर्म सच्चे हैं; इस प्रकार अनेक तरह के बाहर के नये नये भ्रम ग्रहण किये; परंतु भाई! जैसे 'एक और एक मिलकर दो होते हैं', यह त्रिकाल सत्य है, उसी प्रकार जो वस्तु स्वभाव या वस्तु धर्म है, वही वीतरागी-विज्ञान ने कहा है, इसलिये वह त्रिकाल सत्य ही है, अन्य कोई कथन सत्य नहीं है।

जन्म के बाद अनेक प्रकार की नई विपरीत मान्यताऐं ग्रहण की, उसी को गृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं। उसे लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता भी कहा जाता है।

लोकमूढ़ता—पूर्वजों ने अथवा कुटुंब के बड़े लोगों ने किया या जगत् के अग्रगण्य बड़े लोगों ने किया, इसलिये मुझे भी वैसा करना चाहिये और स्वयं विचार शक्ति से यह निश्चय नहीं किया कि सत्य क्या है? इस प्रकार अपने को जो मन-विचार करने की शक्ति प्राप्त हुई, उसका सदुपयोग न करके दुरुपयोग ही किया और जिसके फलस्वरूप उसकी विचारशक्ति का मरण हुये बिना नहीं रहता। मंद कषाय के फलस्वरूप विचारशक्ति प्राप्त कर लेने पर भी उसका सदुपयोग न करके अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के साथ नया भ्रम उत्पन्न कर लिया और उसे पुष्ट किया उसके फलस्वरूप जीव को ऐसी हलकी दशा प्राप्त होती है, जहाँ विचारशक्ति का अभाव है। अपनी विचारशक्ति को गिरवी रखकर सैनी जीव भी धर्म के नाम पर इस प्रकार अनेक तरह की विपरीत मान्यताओं को पुष्ट किया करते हैं कि यदि हमारे बाप-दादा कुदेव को मानते हैं तो हम भी उन्हें ही मानेंगे। इस प्रकार अपनी मन की शक्ति का घात करके स्वयं अपने लिये निगोद की तैयारी करते हैं। जैसे निगोदिया जीव को विचारशक्ति नहीं होती; उसी प्रकार गृहीत मिथ्यात्वी जीव अपनी विचारशक्ति का दुरुपयोग करके उसका घात करता है और उस निगोद की तैयारी करता है, जहाँ विचारशक्ति का सर्वथा अभाव है।

देवमूढ़ता—सच्चे धर्म को समझानेवाला कौन हो सकता है?-ऐसी विचारशक्ति होने पर भी उसका निर्णय नहीं किया।

निज को विपरीत ज्ञान है, इसलिये जिसे यथार्थ पूर्ण ज्ञान हुआ है—ऐसे दिव्य शक्तिवाले सर्वज्ञ देव के पास से सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है; किन्तु जीव उन्हें नहीं पहचानता और सर्वज्ञदेव के संबंध में (अर्थात् संपूर्ण सच्चा ज्ञान किसे प्राप्त हुआ है इस संबंध में) मूर्खता धारण करता है और इस प्रकार सच्चे देव के संबंध में भी अपनी विचारशक्ति का दिवाला पीटता है, यही देवमूढ़ता है।

(देव का अर्थ पुण्य के फल से प्राप्त स्वर्ग के देव नहीं; किन्तु ज्ञान की दिव्यशक्ति धारण करनेवाले सर्वज्ञदेव हैं।)

गुरुमूढ़ता—बीमार आदमी इस संबंध में खूब विचार करता है और परिश्रम करके यह ढूंढ़ निकालता है कि किस डाक्टर की दवा लेने से रोग दूर होगा। लोग कुम्हार के पास दो टके हंडियां लेने जाते हैं तो उसकी भी खूब ठोंक बजाकर परीक्षा कर लेते हैं, इसी प्रकार और भी अनेक सांसारिक कार्यों में परीक्षा की जाती है, किन्तु यहाँ पर आत्मा के अज्ञान का नाश करने के लिये और दु:ख को दूर करने के लिये कौन निमित्त (गुरु) हो सकता है? इस का परीक्षा के द्वारा निर्णय करने में विचारशक्ति को नहीं लगाता और जैसे पिताजी ने कहा है अथवा कुल परंपरा से जैसा चला आ रहा है, उसी का अंधानुकरण करके दौड़ लगाता है, यही गुरुमूढ़ता है।

इसप्रकार जीव या तो विचारशक्ति का उपयोग नहीं करता और यदि उपयोग करने जाता है तो उपरोक्त लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता से तीन प्रकार से लुट जाता है। कुगुरु कहते हैं कि दान दोगे तो धर्म होगा; किन्तु भले आदमी! ऐसा तो गाँव के भंगी भी कहा करते हैं कि माई-बाप! एक बीड़ी दोगे तो धर्म होगा। इसमें कुगुरु ने कौन सी अपूर्व बात कह दी? और फिर शील का उपदेश तो माँ-बाप भी देते हैं तो वे भी धर्मगुरु कहलायेंगे। स्कूलों और पाठशालाओं में भी अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्यादि पालन करने को कहा जाता है तो वहाँ के अध्यापक भी धर्मगुरु कहलायेंगे और वहाँ की पुस्तकें धर्म शास्त्र कहलायेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता। धर्म का स्वरूप अपूर्व है।

लोग उपवास से धर्म तो मानते हैं किन्तु उपवास शब्द का अर्थ नहीं समझते। लोग रोटी न खाने को उपवास समझते हैं किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। उपवास करनेवाला अथवा उपवास का उपदेश देनेवाला उपवास शब्द के अर्थ को ही न समझता हो तो वहाँ धर्म कैसे हो सकता है? शरीर को अन्न का संयोग नहीं हुआ और उसे उपवास मान लिया किन्तु जीव तो कभी अन्न नहीं खाता। जीव अज्ञानदशा में अज्ञान और दु:ख ही खाता है (भोगता है); ज्ञानदशा में सच्चा ज्ञान और उसका अविनाभावी सच्चा सुख भोगता है।

तीन प्रकार की मूढ़ताओं में गुरुमूढ़ता विशेष है। उसमें धर्म के नाम पर स्वयं अधर्म करता हुआ भी धर्म मानता है। उदाहरण के रूप में दुकान में बैठा हुआ आदमी यह नहीं मानता कि मैं अभी सामायिक-धर्म करता हूँ; किन्तु धर्मस्थान में जाकर अपने माने हुये गुरु अथवा बड़े लोगों के

कथनानुसार अमुक शब्द बोलता है, जिनका अर्थ भी स्वयं नहीं जानता और उसमें वह जीव मान लेता है कि मैंने सामायिक धर्म किया। यदि शुभभाव हो तो पुण्य हो किन्तु उस शुभ में धर्म माना अर्थात् अधर्म को धर्म माना; यही मिथ्यात्व है।

स्वयं विचारशक्तिवाला होकर भी नये-नये भ्रमों पुष्ट करता रहता है, यही गृहीत मिथ्यात्व है। यहाँ पर मिथ्यात्व के संबंध में दो बातें कही गई हैं। (१) अनादि काल से समागत पुण्य से धर्म होता है और मैं शरीर का कार्य कर सकता हूँ; इस प्रकार की जो विपरीत मान्यता है, सो अगृहीत मिथ्यात्व है। (२) लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता के सेवन से कुदेव-कुगुरु के द्वारा जीव विपरीत मान्यता को पुष्ट करनेवाले भ्रम ग्रहण करता है, यही गृहीत मिथ्यात्व है। सच्चे देव-गुरु-धर्म की तथा अपने आत्मस्वरूप की सच्ची समझ के द्वारा इन दोनों मिथ्यात्वों को दूर किये बिना जीव कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं हो सकता। और सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी धर्मात्मापन नहीं हो सकता; इसलिये जिज्ञासुओं को प्रथम भूमिका में ही गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग करना अत्यावश्यक है। ★

ग्राहकों से निवेदन

आपका वार्षिक मूल्य २४ वें अंक के साथ पूरा हो रहा है, इसलिये तीसरे वर्ष का (अंक २५ से ३६ तक का) मूल्य तीन रुपया मनियार्डर द्वारा शीघ्र ही भेजने की कृपा करें। जिन ग्राहक बंधुओं को ग्राहक रहने की इच्छा न हों वे तुरन्त ही चिट्ठी लिख के हमें ज्ञात करें। —रवाणी

श्री दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद का

सफल अधिवेशन

स्थान : भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप, सुवर्णपुरी-सोनगढ़-काठियावाड

ता. ७-८-९ मार्च १९४७

★

सुवर्णपुरी-सोनगढ़ का नाम बहुत समय से सुन रखा था, किन्तु अभी गत ७, ८, ९ मार्च को विद्वत्परिषद के अधिवेशन के निमित्त से भारत के सुविख्यात ३२ दिगम्बर जैन विद्वानों ने सोनगढ़ जाकर वहाँ के आध्यात्मिक प्रभाव को देखा और वे सब चकित रह गये। सचमुच ही पूज्य श्री कानजी महाराज का व्यक्तित्व महान और प्रभाव अद्भुत है।

अध्यात्मधाम सोनगढ़ (काठियावाड़) में ७, ८, ९ मार्च को पं. कैलाशचन्द्रजी जैन सिद्धान्तशास्त्री की अध्यक्षता में दि० जैन विद्वत् परिषद का तृतीय अधिवेशन सानन्द संपन्न हो गया। इस अधिवेशन में बाहर से करीब ३२ विद्वान पधारे थे। और श्रोताओं की संख्या ५०० से अधिक थी। ता० ७ मध्याह्न में सभापतिजी का जुलूस गाजे बाजे के साथ निकाला गया था। उसके बाद नवनिर्मित श्री कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप में दि० जैन विद्वत् जैन परिषद का अधिवेशन प्रारंभ हुआ था।

मंगलाचरण और सभापति निर्वाचन विधि के बाद स्वागताध्यक्ष श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी का स्वागत भाषण हुआ था जो यहां मुद्रित है। तत्पश्चात् सभापतिजी का विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ था। भाषण के बाद पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ ने समागत विद्वानों का परिचय कराया था।

परिषद की प्रथम बैठक के बाद ३.०० से ४.०० बजे तक अध्यात्मपुरुष श्री कानजी महाराज का समयसार पर प्रवचन हुआ। आपका प्रथम भाषण अधिकांश विद्वानों के मन पर नहीं जमा, क्योंकि उन्हें उसमें निश्चयनय की सर्वथा प्रधानता और नियतिवाद दिखाई दिया, किन्तु रात्रिचर्चा के बाद और अन्य प्रवचन सुनकर अधिकांश विद्वानों की धारणा बदल गई, जिसके परिणामस्वरूप विद्वत् परिषद ने श्री कानजी महाराज और उनके कार्य के प्रति श्रद्धादर्शक प्रस्ताव पास किया जो अन्यत्र मुद्रित है। और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं० फूलचन्दजी शास्त्री, पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ, पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, प्रो० खुशालचन्द्रजी साहित्याचार्य तथा पं० परमेष्ठीदास जैन आदि ने पूज्य श्री कानजी महाराज और उनके महानतम् कार्यों के प्रति श्रद्धा प्रगट करते हुये संक्षिप्त भाषण दिये थे। —परमेष्ठीदास जैन

स्वागताध्यक्ष का वक्तव्य

माननीय प्रमुखश्री और सदस्यगण

आज से बारह वर्ष पहले जो सौराष्ट्रभूमि में दिगंबर जैनधर्म लुप्तप्राय स्थिति में था, उसी भूमि में आज दिगंबर जैन समाज की अग्रगण्य संस्था का भाव भरा स्वागत करते हमको अत्यंत हर्ष होता है। लम्बे प्रवासादि की तकलीफ सहकर भी आपने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया इस के लिये हम आप सर्व के ऋणी हैं।

एक समय जहाँ जैनधर्म पूर्ण विकसित अवस्था में था, जिस पवित्र भूमि में देवाधिदेव श्री नेमिनाथ भगवान के कल्याणकमहोत्सवों को इन्द्रों ने किया था, श्रुतगंगा के प्रवाह को बहते रखनेवाले महा समर्थ आचार्यदेव श्री धरसेनाचार्य के पवित्र चरणकमल की धूलि से जो भूमि पुनित हुई थी, प्रसिद्ध कथानुसार जिस भूमि में आचार्य महाराज श्री उमास्वामी के पवित्र हस्त से महान ग्रन्थ मोक्षशास्त्र की रचना हुई थी, उसी भूमि में, खेद की बात है कि काल के बीतने पर यथार्थ जैन दर्शन की बड़ी भारी कमी आई। वह यहाँ तक कि दिगंबर जैन धर्म प्रायः नष्ट सा हो गया। इस प्रकार धर्म के लंबे विरह काल के पश्चात् (वि.सं. १९२४ में) मोरवी के नजदीक ववाणिया गाँव में महान तत्त्वज्ञानी श्रीमद् राजचंद्रजी नामके एक नररत्न का जन्म हुआ–जिन्होंने यथार्थ जैन दर्शन का रहस्य पाकर, उनके पत्रों द्वारा तथा परमश्रुत प्रभावक मंडल की स्थापना द्वारा वास्तविक जैन दर्शन का प्रचार का प्रारंभ किया।

यथार्थ जैन दर्शन का व्यापक प्रचार काठियावाड़ में अब देखा जाता है, उसके प्रणेता परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी हैं। वि.सं. १९७८ में ग्रंथाधिराज श्री समयसार गुरुदेव के करकमल में आते ही आनंदोदधि उल्लसित हुआ; समयसार के परम गंभीर रहस्यों को भावुक हृदय में पचाते–पचाते अमृत सागर का अनुभव हुआ। 'अहो! स्वतंत्र द्रव्य, स्वतंत्र गुण, स्वतंत्र पर्याय! देह से भिन्न, विकार से भिन्न, परम अद्भुत आनंदनिधान!' वह आनंदनिधानदर्शक श्री समयसार का और दिगम्बर जैन धर्म का साम्राज्य गुरुदेव के हृदय कमल में स्थापित हुआ। बस, इस पवित्र प्रसंगरूप मूल से दिगम्बर धर्म का व्यापक प्रचार का वृक्ष आज प्रसरित हुआ है—फलस्वरूप हजारों भव्य जीव सद्धर्मप्रति प्रेरे गये हैं, लाख से ऊपर सद्धर्म की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और जिसके परिणाम से हमारे आंगन में आज दिगम्बर जैन धर्म के अग्रगण्य विद्वानों का वात्सल्यपूर्ण सत्कार करने का भाग्य हमें प्राप्त हुआ है।

आपकी महा संस्था का एक मुख्य उद्देश जैन संस्कृति का प्रचार है। आपका वह उद्देश संपूर्ण रीति से फलीभूत हो, ऐसी हमारी हार्दिक भावना है और उस कार्य में यथाशक्ति सहकार देने के लिये भी हम तैयार हैं। अहो! जैनदर्शन तो वस्तुदर्शन है कि जिसका ज्ञान होने पर जीव पराधीन दृष्टि से छूटकर स्वद्रव्य से संतुष्ट हो कर शाश्वत सुखनिधि को प्राप्त होता है। वह परम कल्याणकारी दर्शन का हार्द प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता है। उस स्वतंत्रता के प्रकाशन करनेवाले ज्ञानांश का-निश्चयनय का निरूपण करके वीतराग भगवंतों ने हम सब पर परम उपकार किया है; अपन सब के वास्ते खेद की बात है कि जैनदर्शन का वह एक मुख्य अंग-निश्चयनय-आज पक्षघात से पीड़ित हो रहा है। जैन समाज में उस निश्चयनय के ज्ञान की भारी कमी वर्त रही है। समाज का बहुत भाग ऐसी भ्रमणा में पड़ा है कि 'जड़ कर्म आत्मा को हैरान करते हैं', 'व्यवहार करते-करते निश्चय की प्राप्ति होती है', 'शुभ करते-करते शुद्धता होगी', 'उपादान में कार्य होने में निमित्त की राह देखनी पड़ती है', ऐसी अनेक मान्यताएं लोगों में गहरी जम गई हैं। हम सब जानते हैं कि जब तक लोगों को निश्चय का ज्ञान नहीं होगा, तब तक द्रव्य का परम स्वातंत्र्य उनके ख्याल में नहीं आयेगा और तब तक ऐसी भ्रामक मान्यताएं नहीं मिटेंगी तथा सच्चे जैनत्व की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये जीव के त्रस-स्थावरादि और गुणस्थानमार्गणादि भेदों के ऊपर तथा कर्म की स्थिति आदि के ऊपर जो लक्ष्य दिया जाता है, उससे अनेक गुणा अधिक लक्ष्य जब भेदविज्ञान के कारणभूत अध्यात्म शास्त्रों के ज्ञान के ऊपर दिया जायेगा, वह दिवस धन्य होगा, उस दिन ही जैन संस्कृति का यथार्थ प्रचार होगा। प्रभावना के प्रेम से प्रेरित हमारी यह भावना है कि आप जैसे जैनदर्शन के विद्वानों द्वारा स्वतंत्र द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान विशेष-विशेष प्रचारित हो, छोटी-छोटी पुस्तिका के प्रकाशन द्वारा पाठशालाओं के विद्यार्थी भी इस ज्ञान की प्राप्ति करें, कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन की परम महिमा जैन समाज में विस्तरें और नयाधिराज निश्चयनय का विजयडंका दिगंत व्यापी हो।

अंत में, आपको हृदय के भाव से सत्कार करता, आपकी सुश्रुषा में कुछ त्रुटियाँ रही हो उनके लिये आप उदारचित्त महानुभावों से क्षमा याचना करता और जैनदर्शन के प्रचार-कार्य में सफलता इच्छता हुआ, मैं विराम लेता हूँ।

ता. ७-३-४७, शुक्रवार

रामजी माणेकचंद दोशी

श्री दि० जैन विद्वत् परिषद का महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव

आत्मार्थी श्री कानजी महाराज द्वारा जो दि० जैनधर्म का संरक्षण और संवर्द्धन हो रहा है, विद्वत् परिषद उसका श्रद्धापूर्वक अभिनन्दन करती है। तथा अपने सुराष्ट्री साधर्मी बहिनों-भाईयों के सद्धर्म प्रेम से प्रमुदित होती हुई उनका हृदय से स्वागत करती है। वह इसे परम सौभाग्य और गौरव का विषय मानती है कि आज दो हजार वर्ष बाद भी महाराज ने श्री १००८ वीर प्रभु के शासन के मूर्तिमान प्रतिनिधि भगवान कुन्दकुन्द की वाणी को समझकर अपने को ही नहीं पहचाना है, अपितु हजारों और लाखों मनुष्यों को एक जीव उद्धार के सत्यमार्ग पर चलने की सुविधाएं जुटा दी हैं। परिषद का दृढ़ विश्वास है कि महाराज के प्रवचन, चिन्तन तथा मनन द्वारा होनेवाला दि० जैन धर्म की मान्यताओं का विश्लेषण तथा विवेचन न केवल साधर्मियों की दृष्टि को अन्तर्मुख करेगा अथवा सतत् ज्ञानाराधकों को अप्रमत्तता के साक्षात् परिणाम आचरण के प्रति तथैव प्रयत्नशील बनायेगा, अपितु मनुष्य मात्र को अन्तर तथा बाह्य पराधीनता से छुड़ानेवाले रत्नत्रय की प्राप्ति करानेवाले वातावरण को सहज ही उत्पन्न कर देगा। अबएव इस अवसर पर अभिनन्दन और स्वागत के साथ साथ परिषद यह भी घोषित करती है कि यतः आप का कर्तव्य हमारा है अतः इस प्रवृत्ति में हम आपके साथ हैं।

: समर्थक :

पं. महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायतीर्थ

पं. परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ

पं. राजेन्द्रकुमारजी जैन न्यायतीर्थ

: प्रस्तावक :

प्रो. खुशाल जैन

कैलासचन्द्र

[अध्यक्ष, श्री दि. जैन विद्वत् परिषद]

८-३-४७

सोनगढ़ के सत्पुरुष श्री कानजी महाराज के संबंध में विद्वानों के

उद्‌गार

सोनगढ़ में दि० जैन विद्वत् परिषद के अधिवेशन के प्रसंग पर भारत के विविध नगरों से गणमान्य विद्वान पधारे थे। तीन दिन तक यहाँ रह कर उनके मन पर जो प्रभाव पड़ा वह उनके अन्तिम दिन (९ मार्च) के भाषणों से स्पष्ट व्यक्त होता है। उन में से कुछ विद्वानों के उद्‌गारों का सारांश यहाँ दिया जाता है।

पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, बनारस—

विद्वत् परिषद के प्रस्ताव तो कहीं भी किये जा सकते थे; किन्तु हम तो इस निमित्त को लेकर यहाँ के दर्शन करने यहाँ आये थे। हम पूज्य कानजी महाराज के प्रवचनों से बहुत प्रभावित हुये हैं। हमारी प्रवृत्ति निमित्तमूलक है, हम उपादान को भूल गये हैं, इसलिये हमें यहाँ के प्रवचन में वैचित्र्य सा लगता है। सच तो यह है कि हमने अपने को नहीं पहचाना। पूज्य कानजी महाराज के प्रवचनों से हमारी और हमारे साथियों की आँखें खुल गई हैं। यहाँ के सभी नर-नारी अध्यात्मरत हैं। यदि हमारी आँखें अभी भी न खुलीं तो हमारा यहाँ आना व्यर्थ हुआ। महाराज ने हम लोगों पर करारी चोटें दी हैं। हम लोग तो पत्थर पर लिखित समयसार हैं, जो डूबने वाले हैं। हम शरीर का पोषण करते हैं, आत्मा का नहीं। यहाँ केवल आत्मा की ही चर्चा है। हमारी यह भावना है कि हम पूज्य कानजी महाराज को भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के रूप में (नग्न दिगम्बर) कब देखें?

* * *

यहाँ पर परिषद का अधिवेशन करने से हम सबको महाराजश्री के पास में अध्यात्म का बहुत लाभ मिला है। अधिवेशन में उपस्थित सभी विद्वानों कह रहे हैं कि हमको महाराजश्री के आध्यात्मिक उपेदश से बहुत लाभ हुआ है। हम सब के परिणाम में भेद हो गये हैं। परिषद अपना अधिवेशन का कार्य तो किसी भी स्थान पर कर सकती थी, किन्तु महाराजश्री का आध्यात्मिक उपदेश का लाभ लेने के मुख्य हेतु से इस स्थान को पसंदगी दी गई।

१९९६ की साल में जुनागढ़ में जब महाराजश्री से मेरा एक घंटे तक परिचय हुआ, तबसे ही मेरे हृदय में ऐसी छाप पड़ी हुई थी कि महाराजश्री का उपदेश अवश्य सुनना चाहिए, इसलिये हम सब विद्वान् भाईयों को एक साथ ऐसा लाभ मिले-यह हेतु से इस अवसर पर यहाँ आने का

प्रसंग मिला है। तीन दिन महाराजश्री का आध्यात्मिक व्याख्यान सुनकर मुझे ऐसा आत्मवेदन हुआ है कि अभी मैंने आत्मा का कुछ नहीं किया, केवल शरीर का किया है। जब हम विद्यार्थियों को शास्त्राभ्यास कराते थे, तब प्रवचनसारादि में चिदानंद शुद्ध आत्मा की जो अध्यात्म बात आती थी, उसको तो छोड़ देते और उद्धर्वांश कल्पनादि बात हम सीखाते थे। (इस समय पर सभापतिजी बहुत गद्‌गद् हो गये थे।)

यह सोनगढ़ जैसा वातावरण अन्यत्र कहीं पर भी नहीं है। एक बाई पानी भरने के लिये जा रही थी, उससे किसी ने पूछा कि 'मंडनमिश्र का घर कहाँ है ?' तब बाई ने उत्तर दिया कि 'जिस घर में तोता भी शास्त्रार्थ कर रहा हो कि-स्वतः प्रमाणः परतः प्रमाणः उस घर को मंडनमिश्र का जानना' उसी तरह यदि कोई पूछे कि सोनगढ़ कहाँ है ? तो हम भी उत्तर देते हैं कि जिस स्थान में घर घर में भाई-बहिनों छोटे-बड़े सब के बीच दिनरात अध्यात्म की चर्चा सुनाई पड़ती हो वही सोनगढ़ है। यहाँ के छोटे बच्चों के पास भी हमें अध्यात्म की चर्चा सुनने में आती है। रास्ते में चलते-चलते अजैन डॉक्टर भी हमारे साथ तत्त्वचर्चा करने लगता है, इससे हमको ऐसा लगा कि जो शरीर का डॉक्टर था, वे सोनगढ़ में आत्मा का भी डॉक्टर बन गये। एक पोलीसपटल जो कि महाराज का उपदेश सुनने को आते हैं और जो मुस्लिम बंधु है वे भी रास्ते में हमको पूछते थे कि आपको महाराज की वाणी कैसी लगती है। रात्रि को सोते समय पिछली बारि में से बहिनों में उपादान-निमित्त की चर्चा का आवाज सुनने में आता था। यहाँ रहनेवाले सब भाई-बहिनों का आध्यात्मिक जीवन देखकर हमको अति आनंद होता है। यह सब प्रभाव महाराजश्री का उपदेश का ही है और यहाँ के सब को एक दूसरे पर प्रेम है—छोटे को बड़े पर, बड़े को छोटे पर, यह देखकर भी हम प्रसन्न हुए हैं।

जब हम यहाँ आ रहे थे तब तो ऐसा विचार था कि वहाँ के भाई-बहिनों कुछ हमारे शिक्षण का अनुकरण करेगा, किन्तु उल्टा ऐसा हुआ कि हमारे ही यहाँ से शिक्षा लेने योग्य बना है। यहाँ महाराज की पास में हम सबको नई दृष्टि मिली है। हमारी भावना यह है कि हम नित्य यहाँ पर ही ठहर जाय, और महाराजश्री का उपदेश सुनकर अपना आत्मकल्याण करें। हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हम फिर फिर इधर आयें।

आज दो हजार वर्ष के बाद भी मैं महाराजजी को कुंदकुंद स्वामी के मूर्तिमंतरूप में देख रहा हूँ और मेरी पुनः पुनः यही भावना है कि महाराजजी को साक्षात् कुंदकुंद के ही रूप में देखूं।

पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, काशी—

हमने देखा कि महाराज का अन्तरंग-बहिरंग एक है, इनमें दिखावट-बनावट नहीं है। इनके आध्यात्मिक प्रवचनों की हमारे मन पर गहरी छाप पड़ी है।

पं. राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ, मथुरा—

हमने यहाँ महाराज के साथ सतत् दो दिन तक जो चर्चा की है, और जो प्रश्नोत्तर किये हैं, वे सब परीक्षा बुद्धि से थे। हमने यह भलीभाँति ज्ञात कर लिया है कि पूज्य श्री कानजी महाराज समयसार के महान अध्येता और मर्मज्ञ हैं। वे अपने में एकदम स्पष्ट हैं। हमें इन से बहुत कुछ जानने को मिला है।

* * *

हम महाराजश्री को अभिनंदन देते हैं, बहुमान पूर्वक स्वागत करते हैं और यहाँ रहनेवाले सब भाई-बहिनों का भी स्वागत करते हैं। महाराजश्री का आध्यात्मिक उपदेश सुनकर हमें बहुत हर्ष हुआ है, और इससे हम रोमांचित हुए हैं।

सं. १९९६ में महाराजजी गिरनार यात्रा को गये थे और उस समय मैं भी वहाँ गया था; वहाँ पर मैंने किसी स्थानकवासी भाई से पूछा कि 'महाराज ने स्थानकवासी संप्रदाय क्यों छोड़ दिया?' तब उस भाई ने कहा कि 'महाराजश्री ने स्थानकवासी संप्रदाय से बना नहीं इसलिये उसे छोड़ दिया।' फिर मैंने पूछा कि 'महाराजश्री का उपदेश कैसा है?' उत्तर मिला-'निश्चय का!' उस समय तो यह सुनकर मैं मध्यस्थ रहा, किन्तु अब मैं समझता हूँ कि उनकी बात झूठ ही थी; वे लोगों से महाराजश्री का परिवर्तन सहन नहीं हो सका, इससे द्वेष भाव से ही वे ऐसा बोल रहे थे, हमें मालूम हुआ कि महाराजश्री के उपदेश में व्यवहार का लोप नहीं होता है, किन्तु निश्चय का उपदेश के साथ साथ व्यवहार भी बराबर आ जाता है। जो लोग ऐसा बोलते हैं कि महाराज व्यवहार का निषेध करता है, वे लोग महाराजश्री का उपदेश को ही यथार्थ नहीं समझते हैं इसलिये ही ऐसा बोल रहे हैं, हम दृढ़ता से कहते हैं कि महाराजश्री निमित्त का निषेध नहीं करते हैं किन्तु उपादान और निमित्त यह दोनों पदार्थों की स्वतंत्रता को ही बराबर दिखाते हैं, स्वामीजी आज दो हजार वर्ष के बाद भी श्री कुंदकुंद स्वामी के शास्त्रों का रहस्य प्रगट कर रहे हैं और हजारों लोगों को सत्य मार्ग में लगा रहे हैं—यह देखकर बड़ा हर्ष होता है। महाराजश्री के द्वारा दि० जैनधर्म का जो प्रचार हो रहा है यह देखकर हमें गौरव हो रहा है।

मैं दो दिन से जो प्रश्न कर रहा था यह तो 'महाराजश्री के भीतर में कितनी गहराई है' यह जानने के लिये जिज्ञासा भाव से ही पूछ रहा था, हम दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि स्वामीजी का उपदेश सुनकर हमारा श्रद्धाभेद हुआ है—बुद्धिभेद हुआ है—भक्तिभेद हुआ है। हम गद्‌गद् हृदय से कहते हैं कि स्वामीजी का उपदेश हमें बहुत अच्छा लगता है, वे सत्य हैं। हम स्वामीजी के चरणों में श्रद्धांजलि देते हैं, श्रद्धा करते हैं। हम सहृदय से कहते हैं कि सोनगढ़ जैसा वातावरण सारा हिंदुस्तान में फैल जावे और भारत के कौने-कौने में सब जगह फैल जावे। प्रत्येक प्रत्येक जीव यही धर्म को समझे ऐसी हमारी भावना है। हमारी अंतरभावना यह है कि हम यहाँ पर ही रह जावें। इधर रहनेवाला सब भाई-बहिनें बहुत भाग्यशाली हैं-जो निरंतर महाराजश्री के उपदेश का लाभ उठा रहे हैं।

महाराजश्री का सत्संग में हमें बहुत लाभ हुआ है, हमारे देश में जाकर हमारा मुख से महाराजश्री की प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकेंगे। हम जरूर सब को कहेंगे, यहाँ की जिम्मेदारी अभी हमारे सिर आती है। हम दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि महाराजजी का उपदेश यथार्थ है-परम सत्य है।

पं. परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ, देहली—

वह दिन मेरे लिये परम सौभाग्य का था जब आज से दो वर्ष पूर्व अर्धरात्रि के समय श्री जमनादासभाई रवाणी मेरे पास आये और मुझ से 'आत्मधर्म' के अनुवाद का कार्य स्वीकार करा ले गये। इसी निमित्त से मैं यहाँ के निकट-सम्पर्क में आया, और पूज्य कानजी महाराज के प्रवचनों को समझने का सुयोग मिला। मैं तो महाराज के परम प्रशंसकों में से हूँ। मेरी भावना है कि जैनधर्म के परम सिद्धान्त के प्रचारार्थ पूज्य कानजी महाराज सौ वर्ष जियें।

* * *

पं. महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायाचार्य, काशी—

आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजी महाराज के प्रवचनों को सुनकर हम लोगों का हृदय आत्मविभोर हो गया। हमें अध्यात्मदृष्टि का विशद मंजा हुआ विवेचन सुनने को मिला। आप सब भाईयों के सत्संग का लाभ हुआ। हम किन शब्दों में अपनी प्रसन्नता व्यक्त करें। कानजी महाराज जगत् में स्थायी शान्ति का मूलमन्त्र स्वदृष्टि-स्वाधिकार का विविधरूप में निरूपण करते हैं। जगत् में अशान्ति का मूल कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर अधिकार जमाना चाहता है, उसे

अपने अनुकूल परिणमन कराना चाहता है। द्रव्य अपने ही गुण-पर्याय का स्वामी है। अपने ही रूप में परिणमन करता है। उसका परद्रव्य पर या उसके परिणमन पर कोई अधिकार नहीं है।

पर मूढ़ प्राणी सदा यह चाहता है कि संसार के समस्त पदार्थ हमारे अनुकूल परिणमन करे और पर पदार्थों को अपने अनुकूल परिणमन कराने की धुन में अनेक प्रकार से हिंसा और संघर्ष को जन्म देता है। अत: संक्षेप में पर पदार्थ को अपने अनुकूल परिणमन करानेवाली वृत्ति ही हिंसा है और स्वाधिकार स्वगुण पर्यायाधिकार ही अहिंसा है। यही शान्ति का मूलमन्त्र है। मूलमन्त्र का सतत व्याख्यान इस आध्यात्मिक भूमि पर होता है। भगवान कुन्दकुन्द के वचनामृत का लाभ भव्यजन अतीव मन्द कषाय पूर्वक सुनते हैं, यह विशेष संतोष की बात है। हम सब आपका अपने साधर्मी बन्धु के नाते आपका अभिनन्दन करते हैं और भगवान जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि कानजी महाराज सौ वर्ष तक चिरजीवन प्राप्त करें और हम सबको लाभ पहुँचाते रहें हम पुन: आपको अभिनन्दन करते हैं। ★

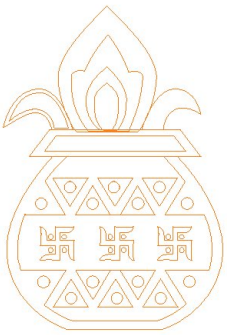

आत्मधर्म का प्रचार घर-घर पर हो जाय इसी भावना से प्रेरित होकर ब्र. सुमेरचंदजी ने रुपया ५० इकट्ठा करके जगाधरी से भेजे हैं।

अत: ५० सज्जनों को आत्मधर्म मासिक दो रुपये में एक वर्ष तक भेजा जायगा। जो भाई-बहन या संस्था उसका लाभ लेना चाहे वे तुरन्त लिखें।

श्री महावीर स्तुति

[चाल—तेरे पूजन को भगवान बना मन मंदिर आलीसान]

जय जय महावीर भगवान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥
बाल-पने गृहवास न कीना। बाल-ब्रह्मचारी-रस भीना॥
हुये दिगम्बर यती महान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान।जय०
मन इन्द्रिय को वश निज किना। राग द्वेष का रस नहीं लीना॥
हना मोह सुभट बलवान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान।जय०
घाति-कर्म का नाश हुआ जब। लोकालोक प्रकाश ज्ञान तब।
भये आप अरहंत महान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान।जय०
समवसरण की हुई तियारी। ऋषि मुनि खग सब मंझारी॥
खिरै अनक्षर ध्वनि अमलान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान।जय०
सब जन सुनें वैर नहिं आनें। वाणी सब के चित्त में सानै॥
सुनै अहिंसा-धर्म प्रधान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान।जय०
कर विहार जिन धर्म बताया। धर्मादिक पुरुषार्थ सुझाया॥
किया अपूर्व जगत कल्यान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान।जय०
शुक्ल ध्यान से लीन हुये जब। पंच-लघुक्षर शेष समय तब॥
हुये आप सब सिद्ध-समान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान।जय०
देख जयन्ती का उत्सव दिन। गावो सब मिल निज गुण निशिदिन॥
भक्त-जन्म का हो अवसान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान।जय०

[श्री कुन्दकुन्द भजनावली में से]

भा. दि. जैन विद्वत्परिषद का तीसरा अधिवेशन अध्यात्मधाम सोनगढ़ में आनन्द सम्पन्न हो गया। इस अधिवेशन की अनेक विशेषताओं में एक तो यह है कि यह अधिवेशन किसी मेले ठेले पर न करके केवल अधिवेशन के लिये ही उपयोगित किया गया था। अध्यात्म पुरुषश्री कानजी महाराज के आकर्षण से इतनी दूरी का स्थान पसंद किया गया था, जिससे वहाँ गये हुये विद्वानों ने अभूतपूर्व लाभ प्राप्त किया।

वहाँ पहुँचे हुये विद्वानों ने श्री कानजी महाराज की पूरी परीक्षा करके देखा और तब उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। तथा सब ने एक स्वर से कहा कि गत २००० वर्ष में जैनधर्म का ऐसा महान् प्रचारक महात्मा अन्य कोई नहीं हुआ।

विद्वत् परिषद का तीसरा अधिवेशन में आये हुये विद्वान

१—	पं. कैलाशचन्द्रजी (प्रधान)	स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी	बनारस (यू०पी०)
२—	पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री,	जैन विद्यालय	कटनी (सी०पी०)
३—	पं. राजेन्द्रकुमारजी शास्त्री	दि० जैनसंघ चौरासी	मथुरा (यू०पी०)
४—	पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्डरोड	बनारस (यू०पी०)
५—	पं. दरबारीलालजी न्यायाचार्य	वीर सेवा मंदिर, सरसावा	सहारनपुर (यू०पी०)
६—	पं. परमानन्दजी शास्त्री	वीर सेवा मंदिर, सरसावा	सहारनपुर (यू०पी०)
७—	पं. परमानन्दजी साहित्याचार्य	जैन बाल विश्राम धुनुपुरा	आरा (बिहार)
८—	पं. नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य	जैन सिद्धान्त भवन	आरा (बिहार)
९—	पं. खुशालचन्द्रजी एम.ए. साहित्याचार्य	काशी विद्यापीठ	बनारस (यू०पी०)
१०—	पं. पन्नालालजी जैन काव्यतीर्थ	हिन्दू विश्वविद्यालय	बनारस (यू०पी०)
११—	पं. लालबहादुरजी शास्त्री	स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनी	बनारस (यू०पी०)
१२—	पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री	स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनी	बनारस (यू०पी०)
१३—	पं. विजयमूर्तिजी एम.ए. दर्शनाचार्य	हिन्दू विश्वविद्यालय	बनारस (यू०पी०)
१४—	पं. परमेष्ठिदासजी न्यायतीर्थ	ऋषिभवन, फैज बाजार	देहली
१५—	पं. घनश्यामदासजी जैन	स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनी	बनारस (यू०पी०)
१६—	पं. इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री	दि० जैन संघ, चौरासी	मथुरा (यू०पी०)
१७—	पं. पन्नालालजी काव्यतीर्थ	जैनगुरुकुल, चौरासी	मथुरा (यू०पी०)
१८—	पं. शंकरलालजी जैन शास्त्री	जैन स्कूल, कोसीकलां	मथुरा (यू०पी०)

१९—	पं. राजकुमारजी साहित्याचार्य	जैन इण्टर कालिज, बडौत	मेरठ (यू०पी०)
२०—	पं. बाबूलालजी जमादार	जैन अनाथाश्रम दरियागंज	देहली
२१—	पं. चन्द्रमौलिजी शास्त्री	जैन अनाथाश्रम दरियागंज	देहली
२२—	पं. रवीन्द्रनाथजी शास्त्री	जैन स्कूल	रोहतक (पंजाब)
२३—	पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य	जैन सत्तर्क विद्यालय, मोराजी	सागर (सी०पी०)
२४—	पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्य	जैन सत्तर्क विद्यालय, वीना	सागर (सी०पी०)
२५—	पं. दामोदरदासजी,	जनरल मर्चेण्ट बड़ा बाजार	सागर (सी०पी०)
२६—	पं. भुवनेन्द्रकुमारजी शास्त्री readymade cloth merchant	राजाबाजार,	लखनऊ (यू०पी०)
२७—	पं. रतनचन्द्रजी जैन	जैन पाठशाला	उजेडिया
२८—	पं. गोविन्दरामजी न्यायतीर्थ	जैन पाठशाला, महरोनी	सागर (सी०पी०)
२९—	पं. हीरालालजी जैन शास्त्री	क्षेत्रपाल, ललितपुर	झांसी (यू०पी०)
३०—	पं. ज्ञानचन्द्रजी जैन स्वतंत्र	जैनमित्र कार्यालय चंदावाड़ी	सूरत
३१—	श्री अमरचन्द्रजी जैन रईस	जसवन्तनगर	इटावा (यू०पी०)
३२—	बा० जयचन्द्रजी जैन बी०ए०		अम्बाला (पंजाब)

राजकोट में जिनमंदिर की तैयारी

सोनगढ़ में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया के दिन प्रातःकाल जिनमंदिर में समूह पूजन तथा ध्वजारोहण हुआ था। तत्पश्चात् पूज्य श्री कानजी महाराज का व्याख्यान हुआ था। व्याख्यान के बाद माननीय अध्यक्ष महोदय श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी ने राजकोट के समस्त मुमुक्षुओं की ओर से अत्यंत हर्ष पूर्वक घोषित किया कि राजकोट में यथाशीघ्र अल्प समय में ही श्री जिन मंदिर और श्री स्वाध्याय मंदिर का निर्माण होगा, इस कार्य के लिए ८००००/- अस्सी हजार रुपये इस प्रकार एकत्रित हुए हैं—

४००००/– सेठ श्री कालीदास राघवजी के सुपुत्र श्री नानालालभाई, बेचरदासभाई तथा श्री मोहनलालभाई की ओर से।

२००००/– सेठ श्री दामोदरदास चतुर्भुज तथा मूलजीभाई चतुर्भुज की ओर से।

१५०००/– स्वर्गीय पारेख लीलाधर डाह्याभाई की धर्मपत्नी श्री जयाकुंवर बहन की ओर से।

५०००/– भाईश्री खीमचंद जेठालाल सेठ की ओर से।

उपरोक्त घोषणा करते समय श्री रामजीभाई तथा श्री नानालालभाई आदि की आँखों में हर्षाश्रु दिखाई दे रहे थे। इस प्रकार राजकोट में बहुत शीघ्र ही जिन मंदिर और स्वाध्याय मंदिर का निर्माण हो जायगा।

इस घोषणा के बाद तत्काल ही श्री जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकली थी।

श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप में मंगल प्रसंग

सोनगढ़ में भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप के उद्घाटन के समय राजकोट निवासी श्री खीमचंद जेठालाल सेठ (उम्र ४४ वर्ष) तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती जयाकुंवर बहन (४० वर्ष) ने पूज्य श्री कानजी स्वामी से आजीवन ब्रह्मचर्य ग्रहण किया है। श्री खीमचंदभाई अत्यंत शान्त, बुद्धिशाली और तत्त्वप्रेमी हैं। इस उम्र में ब्रह्मचर्य ग्रहण करके आपने अति सुंदर कार्य किया है, आपके कुटुम्बियों ने भी इस कार्य की सहर्ष सराहना की है। श्री खीमचंदभाई तथा श्रीमती जया बहन इस कार्य के लिए अभिनंदन के पात्र हैं।

इससे भी अधिक हर्षदायक समाचार यह है कि—जामनगर निवासी महेता श्री नथुभाई पुरुषोत्तम के सुपुत्र श्री अमृतलाल नथुभाई तथा मोरबी निवासी महेता अमृतलाल काशीदास के

सुपुत्र श्री हरीलाल अमृतलाल ने पूज्य श्री महाराजजी से आजीवन ब्रह्मचर्य ग्रहण किया है। उपरोक्त दोनों भाईयों की आयु इस समय मात्र २३ वर्ष की है, दोनों कुमार-ब्रह्मचारी हैं। बहुत समय से पूज्य श्री कानजी स्वामी के चरणों में रहकर निरंतर तत्त्व का अभ्यास करते रहते हैं, दोनों तत्त्व प्रेमी बुद्धिशाली और वैराग्ययुक्त हैं। पूज्य महाराजजी की उन पर कृपा दृष्टि है। इस अल्प आयु में इतना महान कार्य करने के लिए दोनों भाई अधिकाधिक अभिनंदन के पात्र हैं।

उपरोक्त मुमुक्षुओं को ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा देते समय पूज्य महाराजजी अधिक उल्लसित थे। इस समय आपने कहा कि यह खासा मंगल प्रसंग है।

इन के अतिरिक्त उसी समय बालेसर (मारवाड़) निवासी श्री हस्तीमलजी (उम्र ४२ वर्ष) तथा घोड़नदी ग्राम निवासी श्री गिरधरलालजी टेइलरने आजीवन ब्रह्मचर्य अंगीकार किया है। श्री हस्तीमलजी भी कुमार ब्रह्मचारी हैं।

इसी प्रसंग में यह भी प्रगट कर देना उचित होगा कि लाखणका निवासी साह आणंदजी बलमजी के सुपुत्र श्री गुलाबचंद आणंदजी साह (उम्र ३५ वर्ष) ने भी पूज्य महाराजजी से संवत् १९९२ में आजीवन ब्रह्मचर्य अंगीकार किया था, उस समय आपकी उम्र मात्र २७ वर्ष की थी; वे गत ८ वर्ष से पूज्य श्री कानजी स्वामी के चरणों में रहकर तत्त्व का अभ्यास कर रहे हैं। आप भी कुमार ब्रह्मचारी हैं और अत्यंत सेवाभावी हैं।

आजीवन ब्रह्मचर्य :— ता. २४-१-४७ माघ शुक्ला १ गुरुवार के दिन मोरवी निवासी श्री मनसुखलाल जीवराज मेहता तथा उनकी धर्मपत्नी नवलबहन ने पूज्य महाराजजी के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य अंगीकार किया। ब्रह्मचर्य ग्रहण करने के लिए आप मोरवी से सकुटुम्ब पूज्य महाराजजी के समक्ष आयो और अपनी भक्ति प्रदर्शित करके सपत्नी ब्रह्मचर्य ग्रहण किया।

वींछिया में श्री जिनमंदिर और श्री स्वाध्याय मंदिर का शिलारोपण

सोनगढ़ में फाल्गुन सुदी ३ की रात्रि को १० बजे स्पेशल ट्रेन से रवाना होकर सर सेठ हुकमचंदजी आदि वींछिया पधारे। वहाँ उनके तथा पोरबंदर के श्रीमान् सेठ नेमिदास खुशालचंद के करकमलों द्वारा श्री जिनमंदिर तथा श्री जैन स्वाध्याय मंदिर का शिलान्यास हुआ।

वींछिया में भव्य स्वागत होने के बाद वहाँ के निर्मापित मंडप में श्रीमान् रामजीभाई ने भाषण में श्री जिनमंदिर और श्री जैन स्वाध्याय मंदिर का विशेष महत्त्व समझाते हुये कहा कि मेरी दृष्टि में इस वींछिया जैसे छोटे से ग्राम में श्रीमान् सर सेठ हुकमचंदजी और श्रीमान् सेठ नेमिचन्दभाई सदृश दो महान प्रतिष्ठित सेठों का सहकुटुंब पधारना और उनके कमकमलों से श्री जिनमंदिर और स्वाध्याय मंदिर का शिलान्यास होना ऐसा अद्वितीय प्रसंग है कि जो इस से पूर्व कभी नहीं हुआ था। जैनधर्म सनातन वस्तु स्वभावरूप सत्यमार्ग है। इस सत्यधर्म का प्रकाश और विस्तार पूज्य श्री कानजी स्वामी कर रहे हैं। उसका जो विस्तृत प्रचार होना प्रारंभ हुआ है वह वृद्धिंगत होकर सारे भारतवर्ष में फैलेगा इस प्रकार केवलज्ञानी भगवान के दिव्यज्ञान में झलका हुआ है इसमें शंका के लिये स्थान ही नहीं है।

इसके बाद सर सेठ हुकमचंदजी ने अपने भाषण में कहा कि ऐसे पवित्र धर्म प्रसंग में भाग लेने के लिये मैं सदैव तैयार हूँ। जब आप कहें तब आने के लिये तैयार हूँ। मैं प्रत्येक जगह अपनी सेवा अर्पित करूँगा। मेरी तो भावना है कि सारे काठियावाड़ में जिनमंदिर तथा स्वाध्याय मंदिर बन जायं और सारे हिन्दुस्तान में जैनधर्म का डंका बज जाय। आप लोगों के अति उत्साह और उत्कृट धर्मप्रेम को देखकर मेरा हृदय हर्ष से फूला नहीं समाता। मैंने जीवन में ऐसी धर्म-भक्ति नहीं देखी। महाराजजी ने मोक्षमार्ग का वास्तविक स्वरूप स्पष्टतया निरूपण करके हजारों भव्य जनों को सद्धर्म में आकर्षित किया है। हम सदा उनकी प्रशंसा करते रहते हैं! हमें इस बात का हर्ष है कि महाराजश्री के परिचय से हमारे कुटुंब की धर्म की रुचि वृद्धिंगत हुई है।

मेरी भावना है कि आप लोग प्रत्येक ग्राम में जिनमंदिर और स्वाध्याय मंदिर बनायें। आप

मुझे जब भी याद करेंगे तभी आधी रात उठकर आने के लिये तैयार हूँ। ऐसे धर्म कार्य तो महाभाग्य से मिलते हैं। महाराजश्री समस्त आत्माओं को भगवान कहते हैं; अपनी सच्ची प्रभुता का ख्याल कराकर जो स्वतंत्र वस्तु स्वरूप है, वही प्रकाशित करते हैं।

इसके बाद श्रीमान् पं. देवकीनन्दनजी ने खड़े होकर अपना महान् हर्ष व्यक्त किया और महाराजश्री के विषय में इस प्रकार कहा कि ऐसा धर्म प्रभावक, महान् तत्त्वज्ञ, तीर्थस्थापक, युगप्रधान, महर्षि पुरुष बहुत वर्षों में नहीं हुआ ऐसा मैं हृदय से मानता हूँ। शास्त्राधार सहित वस्तु स्वरूप को बतानेवाली उन जैसी शैली मैंने आजतक कहीं नहीं देखी। हम लोग आजतक निमित्त ऊपर दृष्टि रखकर शास्त्र पढ़ते थे, किन्तु स्वामीजी ने वास्तविक दृष्टि से-स्वाश्रित निश्चय तत्त्व दृष्टि से शास्त्र के अर्थ करने को यथार्थ शैली बताई-यही हमारे लिये अपूर्व लाभ हुआ है और इस विषय का मुझे अपार हर्ष हुआ करता है। इसके बाद वीतराग स्वरूप धर्म और मंगल का स्वरूप तथा उसका महत्व बताकर अन्त में पूज्य महाराजश्री का उपकार माना।

इसके बाद श्रीमान् सर सेठ हुकमचंदजी तथा उनके कुटुंबीजनों की ओर से ७४७१/- की सहायता की श्री वींछिया संघ को घोषणा की गई।

इस प्रसंग में श्री सेठ नेमिदासभाई ने पहले जो १००००/- की जिनमंदिर के खर्च के लिये घोषणा की थी उसमें बड़े हर्ष से २०००/- और दिये तथा उनकी धर्मपत्नी श्री कंचनबहेन ने २५०/- प्रदान किये। इसके बाद मुमुक्षुओं ने भी बड़े उत्साह से करीब ११०००/- का दान दिया। श्री संघ के आमंत्रण को मान देकर जसदण स्टेट के ठाकुर साहिब दोपहर को पधारे और उन्होंने इस धर्मस्थान के लिये अपनी ओर से १०००/- प्रदान कर उत्साह प्रदर्शित किया। इस तरह शिलान्यास अवसर पर लगभग २२०००/- की सहायता प्राप्त हुई।

अंत में वींछिया संघ के समस्त मुमुक्षुओं की ओर से वहाँ के प्रमुख धर्म प्रेमी श्री प्रेमचन्दभाई ने सर सेठ आदि सभी समागत महानुभावों का आभार माना।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता. २८-०३-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड